के अंकन में मिश्रजी ने जो शैली अपनाई उसे प्रारम्भिक आलोचकों ने इब्सन और बर्नार्डशा का अनुकरण सिद्ध करने का प्रयास किया। अपने नाटकों की भूमिका में मिश्रजी ने जो संकेत प्रस्तुत किये थे उनकी ओर ध्यान न देकर आलोचक विवाह, प्रेम, काम और यौन आकर्षण के धरातल पर मिश्रजी की नाट्य कृतियों का मूल्यांकन करते समय इन पर विदेशी प्रभाव की छाया खोजने में व्यस्त हो गये। इस प्रयास से मिश्रजी की प्रतिभा को स्वीकृति मिली या नहीं किन्तु उनकी ख्याति एक साथ हिन्दी-जगत् में व्याप्त हो गई। वे नाट्यकारों में युगान्तरकारी लेखक मान लिये गये और उनके नाटकों की चर्चा अनेक वर्षों और अनेक संदर्भों में होने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि इब्सन और शा ने अपने नाटकों में सामयिक समस्याओं को ही आधार-भित्ति बनाया था, मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में भी समस्याओं की ऊहापोह ही अधिक हुई अतः उन्हें भी समस्या नाटकों में परिगणित कर लिया गया। यद्यपि मिश्रजी ने अपने सामाजिक नाटकों को समस्या तक सीमित नहीं माना। समस्या को व्यापक दृष्टि से देखना-परखना उचित मानकर पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार अपने नाटकों को समस्यामूलक मानने से उन्होंने प्रत्याख्यान भी किया। कदाचित् इसी लिए अपने आलोचकों के मन्तव्यों से वे पूरी तरह समझौता न कर सके। मुझे तो यह भी लगता है कि इसीलिए उन्होंने अपने परवर्ती नाटकों की विषय परिधि को व्यापक बनाने के लिए इतिहास-पुराण और संस्कृति से विविध कथानकों का चयन करना आवश्यक समझा।

मैं मिश्रजी की नाट्य कृतियों को मौलिक प्रतिभा-प्रसूत मानकर मूल्यांकन करने का आग्रह रखता हूँ। किसी विदेशी प्रभाव से उन्हें अभिभूत या आक्रान्त जानकर मैं यह स्वीकार नहीं करता कि उनके प्रारम्भिक सामाजिक नाटकों में किसी पाश्चात्य लेखक का अन्धानुकरण है। हाँ युग-विशेष की परिस्थितियों को समान रूप से ग्रहण करने में यदि कहीं साम्य लक्षित हो तो इसे अनुकरण ही क्यों समझा जाय।

मिश्रजी ने जिस समय नाटक लिखना प्रारम्भ किया उस समय हिन्दी में छायावाद-युग की धूम थी। छायावाद के शैशव काल में मिश्रजी स्वयं उससे प्रभावित थे और 'अन्तर्जगत्' काव्य लिखकर उन्होंने अपनी भावुकता का परिचय दिया था। किन्तु मिश्रजी ने शीघ्र ही उस सहज भावुकता से अपना पिंड छुड़ाकर बुद्धि-विवेक-सम्मत सामाजिक धरातल को ग्रहण कर लिया। 'संन्यासी' जैसे पुष्ट एवं प्रांजल नाटक की रचना उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही की थी। जिन छह सामाजिक नाटकों के कारण मिश्रजी को हिन्दी-जगत् में ख्याति मिली है वे

सभी तीस वर्ष की आयु तक लिखे गये हैं। सामाजिक नाटकों के बाद शारीरिक अस्वास्थ्य तथा पारिवारिक उलझनों के कारण लगभग बारह वर्ष तक उनकी लेखनी विश्राम करती रही। इस विश्राम के बाद उनकी लेखनधारा ही परिवर्तित हो गई। सामाजिक समस्याओं के स्थान पर सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रेरणा से उन्होंने नाटक रचना प्रारम्भ की। इन नाटकों में कुछ चरित प्रधान नाटक भी हैं जिनमें लेखक ने भारतीय महापुरुषों की गौरव-गरिमा को कलात्मक शैली से उद्घाटित किया है। भारतीय इतिहास तथा पुराण के उज्ज्वल अध्यायों पर भी मिश्रजी की दृष्टि गई और अनेक सांस्कृतिक प्रसंगों को उन्होंने इन नाटकों में समेटने का प्रयास किया।

आधुनिक हिन्दी नाटककारों पर पाश्चात्य विचारधारा या पाश्चात्य जीवन-दर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित कर मिश्रजी ने अपने परवर्ती नाटकों में सुविचारित रूप में भारतीय जीवन-दृष्टि को प्रमुखता देने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि स्वतन्त्र राष्ट्र के साहित्यकारों को अपनी परम्पराओं में आस्था रखकर ही साहित्य सर्जन करना चाहिए। अब समय आ गया है कि हम पैरों और हाथ उठाकर उन सभ्यता के ठेकेदारों से कह दें कि नहीं, हमें अब आपकी सभ्यता और संस्कृति की आवश्यकता नहीं है। भौतिक जीवन के निर्वाह के लिए विज्ञान में हम दूसरों से भले ही सीखें परन्तु साहित्य कला और चिन्तन में, अब उनका उच्छिष्ट उठाना हमारे लिए घोर लज्जा की बात होगी। हम जानते हैं कि कला का प्रधान धर्म—मृत्यु से रक्षा है। मृत्यु-पूजा नहीं। हमारे लिए सृष्टि के मूल में ही आनन्द और कल्याण सम्मिलित हैं। आनन्द के उद्रेक में ही सृष्टि का कोई भी कार्य संभव है। हमारी अपनी ओर यूरोप की संस्कृति की यही भेद-रेखा है। एक ओर जीवन का लक्ष्य प्रयोजन और आधार आनन्द है, दूसरी ओर यही सब विषाद अतृप्ति और निराशा। जहाँ जीवन-दर्शन में इतना मौलिक भेद है वहाँ कला और संस्कृति में भेद होना स्वाभाविक ही है।'

मिश्रजी व्यक्तिवादी विचारधारा को साहित्य में स्थान देने का बड़े तीव्र स्वर में विरोध करते हैं। उनके नाटकों में भी व्यक्तिवादी अहं के समर्थक पात्र इसीलिए अभ्युदय का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते निःश्रेयस की तो बात ही करना व्यर्थ है। मिश्रजी की धारणा बन चुकी है कि साहित्य में जब तक व्यक्तित्व का मोह नहीं छूटता तब तक मन की वासनाएँ और कुंठाएँ ही लेखक को भ्रमित करती रहेंगी। धर्म और काम की समस्याओं के समाधान के लिए आज हम मार्क्स और फ्रायड की ओर बड़ी मायामयी दृष्टि से निहारते हैं और उनके तत्त्व वचन के सहारे निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करते हैं। हम उस समय भूल जाते

है कि भारतीय साहित्य में अर्थ और धर्म की तत्त्वस्पर्शी व्याख्या ऋग्वेद और उपनिषद् काल से ही चली आ रही है। बृहदारण्यक का उद्धरण तो स्वयं फ्रायड ने भी अपनी पुस्तक में इसी संदर्भ में उद्धृत किया है। मिश्रजी के मत में वर्ग संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारी संस्कृति के लिए उपजीव्य नहीं हो सकते। इन एकांगी वादों के सहारे हम किसी शाश्वत समस्या का न तो हल निकाल सकते हैं और न साहित्य में किसी उपलब्धि की आशा कर सकते हैं। मिश्रजी परम्परा आस्था और धारणा को छोड़ने की बात करने वालों को चुनौती देकर भारतीय संस्कृति दर्शन और चिन्तन की गौरव-गरिमा को समझने का आग्रह व्यक्त करते हैं।

मिश्रजी की साहित्य विषयक मान्यताओं में परम्परा का मोह देखकर आधुनिक युग के बुद्धिवादी पाठक को कुछ भ्रम हो सकता है किन्तु उन्हीं के सामाजिक नाटकों में इस भ्रम का समाधान भी निहित है। विवेक अनुभूति और विचार का धरातल जब सुदृढ़ होता है तब परम्परा की जड़ता लेखक को आच्छन्न नहीं कर पाती—मिश्रजी की नाट्य रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। मिश्रजी की नाट्य कृतियों के अनुशीलन से हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि निस्सन्देह मिश्रजी आधुनिक हिन्दी नाटकों के उन्नायकों में अग्रतम हैं जिनकी प्रतिभा ने हिन्दी नाटकों में युगान्तर उत्पन्न किया है। मिश्रजी के कई नाटक विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं। उनकी अभिव्यंजना कला तथा नाट्य शिल्प पर समीक्षकों का ध्यान गया है और अभी तक उनके नाटकों के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह उनके कृतित्व का समर्थक है। अधिकारी आलोचकों ने उन्हें हिन्दी का मौलिक एवं युग प्रवर्त्तक नाटककार माना है। किन्तु अभी तक उनकी कृतियों का सर्वांगीण अध्ययन-अनुशीलन प्रस्तुत नहीं हुआ। प्रासंगिक रूप से उनके शिल्प आदि के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह उनके कृतित्व को देखते हुए अपर्याप्त है। मुझे हार्दिक संतोष है श्री भारतभूषण ने इस दिशा में बड़े अध्यवसाय एवं अध्ययनपूर्वक मिश्रजी के नाटकों पर अपने लघु प्रबन्ध में विचार किया है। मैं इस प्रबंध को मूल्यांकन की दृष्टि से पूर्ण कहने की धृष्टता तो नहीं करता किन्तु विवेचन-विश्लेषण का एक स्तुत्य प्रयास इसे अवश्य मानता हूँ।

श्री भारतभूषण की विवेचन-पद्धति बड़ी तटस्थ है। मिश्रजी के नाटकों से अभिभूत होकर गुणगान करना या मदमत्त हो उठना उनके स्वभाव में नहीं है। कृति के अन्तराल में गहरे पैठकर तथ्य की खोज करने में वे कुशल हैं। अनेक स्थलों पर उन्होंने बड़े निर्भीक भाव से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए मिश्रजी

की मान्यताओं का खण्डन किया है। उनके खंडन की भित्ति तर्क प्रमाण और विवेक है। मुझे हर्ष है कि श्री भारतभूषण के इस लघु प्रबंध से अध्येताओं का ध्यान एक बार फिर मिश्रजी के नाट्य साहित्य के मूल्यांकन की ओर जायगा और श्री भारतभूषण अपने बड़े प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक मिश्रजी की समस्त नाट्य कृतियों का विशद रूप से मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकेंगे।

विजयेन्द्र स्नातक

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।
१५.१०.५४

श्रद्धेय मिश्रजी का शुभाशीष

सम्मेलन मार्ग प्रयाग

१०-९-६४

प्रियवर

मेरे सामाजिक नाटकों की आलोचना विषयक आपकी रचना छप चुकी है और वह तब तक प्रकाशित न होगी जब तक मेरे दो शब्द मंगल कामना के रूप में उसमें न आ जायें। ऐसा निर्णय आप न करें और अपनी यह कृति पाठकों, छात्रों आचार्यों के हाथों में जाने दें। उसके जितनी मंगल कामना मिले सरस्वती के प्रसाद स्वरूप सिर झुकाकर ग्रहण करें।

भारतीय परम्परा में कवि व्यक्ति नहीं दिखाता है। यह सत्य पिछली आधी शती में इस देश के बड़े से बड़े साहित्यकार भूल चुके हैं। पश्चिम का कवि पिछले तीन सहस्र वर्षों से केवल कवि रहा है और बराबर अपने व्यक्तित्व का साज सिंगार, प्रचार और प्रसार करता रहा है। विदेशी साहित्य के प्रभाव में इस देश का कवि या साहित्यकार भी अब केवल व्यक्ति है और वही सब कर रहा है जो विदेशी साहित्यकार करते आये हैं।

जब गांधी की हत्या होती है हमारे कवि गीतों की झड़ी लगा देते हैं। जब चीन आक्रमण करता है इनका समूह देश को लेखनी-दान देने का संकल्प लेता है। कोई नहीं सोचता गांधी की हत्या में इनकी वाणी में इतना वेग कैसे आ गया? प्रिय की मृत्यु किस को नाचने वाले देगी। चीन के आक्रमण के पूर्व इनकी लेखनी किसके हित में चलती रही? यह सब कार्य हमारे साहित्यकार अपने व्यक्तित्व के प्रचार प्रसार और राजतन्त्र से लाभ उठाने के विचार या लोभ में करते रहे हैं। इनके साहित्य और जीवन के मूल्यों में भारतीयता का सर्वथा लोप और विदेशी व्यक्तिवाद की उपासना है। देश के इस दुर्दिन में हमारे शासक और साहित्यकार एक स्वर में व्यक्तिवाद की जय बोलकर व्यक्ति की पूजा-अर्चा में लोक का क्षय कर रहे हैं। व्यक्ति प्रधान है लोक नहीं। व्यक्ति-हित प्रधान है लोकहित नहीं। व्यक्ति लोक काल का अंग नहीं लोक से भिन्न उससे बहुत ऊपर है। अविद्या की ऐसी भँवर में जिस जाति के शासक और साहित्यकार एक साथ पड़ गये हैं उस जाति की अधोगति स्वयं सिद्ध है।

श्रद्धेय मिश्रजी का शुभाशीष

सम्मेलन मार्ग प्रयाग

१०-२-६४

प्रियवर

मेरे सामाजिक नाटकों की आलोचना विषयक आपकी रचना छप चुकी है और वह तब तक प्रकाशित न होगी जब तक मेरे दो शब्द मंगल कामना के रूप में उसमें न आ जायें। ऐसा निर्णय आप न करें और अपनी यह कृति पाठकों, छात्रों, आचार्यों के हाथों में जाने दें। उनसे जितनी मंगल कामना मिले सरस्वती के प्रसाद स्वरूप सिर झुकाकर ग्रहण करें।

भारतीय परम्परा में कवि व्यक्ति नहीं दिखाता है। यह सत्य पिछली आधी शती में इस देश के बड़े से बड़े साहित्यकार भूल चुके हैं। पश्चिम का कवि पिछले तीन सहस्र वर्षों से केवल कवि रहा है और बराबर अपने व्यक्तित्व का साज सिंगार, प्रचार और प्रसार करता रहा है। विदेशी साहित्य के प्रभाव में इस देश का कवि या साहित्यकार भी अब केवल व्यक्ति है और वही सब कर रहा है जो विदेशी साहित्यकार करते आये हैं।

जब गांधी की हत्या होती है हमारे कवि गीतों की झड़ी लगा देते हैं। जब चीन आक्रमण करता है इनका समूह देश को लेखनी-दान देने का संकल्प लेता है। कोई नहीं सोचता गांधी की हत्या में इनकी वाणी में इतना वेग कैसे आ गया? प्रिय की मृत्यु किस को नाचने गाने देगी। चीन के आक्रमण के पूर्व इनकी लेखनी किसके हित में चलती रही? यह सब कार्य हमारे साहित्यकार अपने व्यक्तित्व के प्रचार-प्रसार और राजतन्त्र से लाभ उठाने के विचार या लोभ से करते रहे हैं। इनके साहित्य और जीवन के मूल्यों में भारतीयता का उपहास [illegible] और विदेशी व्यक्तिवाद की उपासना है। देश के इस दुर्दिन में हमारे [illegible] और साहित्यकार एक स्वर में व्यक्तिवाद की जय बोलकर व्यक्ति की [illegible] में लोक का क्षय कर रहे हैं। व्यक्ति प्रधान है लोक नहीं। व्यक्तिहित प्रधान है लोकहित नहीं। व्यक्ति लोक का अंग नहीं लोक [illegible] लिए उसके [illegible] मात्र है। भविष्य की ऐसी भँवर में जिस जाति के [illegible] और [illegible]— एक साथ पड़ गए हैं उस जाति की [illegible] है।

आपने मेरे सामाजिक नाटकों की आलोचना की है। जो नाटक मेरे कवि-कर्म के भीतर आते हैं। अपने कवि-कर्म के विषय में अपने मुँह कुछ भी कहना केवल कुरुचि है। नाम प्रचार व्यक्ति का काम है जो विदेशी साहित्य के प्रभाव के पूर्व किसी कवि ने नहीं किया। साहित्य अकादमी के उद्घाटन भाषण में भी राधाकृष्णन् ने जिस कालिदास को भारत का प्रतिनिधि कवि माना था उस कालिदास ने आग्रहपूर्वक त्रिवर्ग—धर्म अर्थ काम के योग के लिए ही कवि-कर्म किया था जीवन की आलोचना के लिए नहीं और इसी अर्थ में वे व्यक्ति नहीं विधाता हैं। उनके साहित्य में उनके व्यक्तित्व का नहीं उनकी सृष्टि का विस्तार है। दूसरी ओर जिस शेक्सपियर को उसी भाषण में इंग्लैण्ड का प्रतिनिधि कवि कहा था जिसकी चार सौवीं जयन्ती पिछले दिनों इस देश में भी धूमधाम से मनायी गयी है वह केवल व्यक्ति है जिसके साहित्य में हत्या आत्महत्या नाना विधि दारुण व्यापार जोन आफ आर्क और यहूदी जाति के प्रति कुत्सित प्रचार व्यक्ति का प्रलापमात्र है जिसकी जयन्ती इस देश में मनाकर कालिदास के कवि कर्म की कपाल क्रिया की जा रही है।

आपकी पुस्तक मिलने पर देखूँगा आज तक मैं कितने पानी में रहा हूँ। कालिदास का नाम जपकर भी मैं कालिदास के कितने निकट और शेक्सपियर के कितने दूर हूँ। मेरी किंचित सफलता की कसौटी भी यही होगी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उच्चतम परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में मेरे ये नाटक समस्या-नाटक कहे गये हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् से बढ़कर सिद्ध समस्या-नाटक इस धरती पर दूसरा नहीं आया। यह मेरा निश्चित मत है। पुस्तक में उपयोग के लिए जो अंश जो आप चाहते हैं उस रूप में स्वीकार करें। चाहें तो इसी का उस रूप में उपयोग करें। विचारक इस पर भी विचार कर लेंगे।

इति शुभम्

स्नेही
लक्ष्मीनारायण मिश्र

प्राक्कथन

पाश्चात्य मान्यताओं के तुलनात्मक संदर्भ में हिन्दी नाटक की प्रकृति एवं स्वरूप का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। इसमें नाटक के प्रत्येक तत्त्व की आधारभूत विशेषताओं को भी पृथक रूप से स्पष्ट करने का प्रयास है। इसके अतिरिक्त दृश्य भेद के कारण नाट्यशिल्प में होने वाले परिवर्तनों को भी लक्षित किया गया है। द्वितीय भाग में समस्या-नाटक की मौलिक आधारभूत विशेषताओं का विवेचन है। इसके अतिरिक्त समस्या नाटक के शिल्प विधि के विवेचन में अन्य नाटकों से उसका भेद स्पष्ट करते हुए समस्या नाटक की व्यावर्तक विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास रहा है। तृतीय भाग में नाटकों के वर्गीकरण का आधार एवं तद्विषयक कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए मिश्र जी के सम्पूर्ण नाटकों का विम्ब के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। इसके उपरान्त केवल सामाजिक नाटकों का शिल्प-संघटन के आधार पर वर्गीकरण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न है कि अमुक नाटक को अमुक वर्ग में ही रखने के क्या विशेष कारण हैं।

तृतीय अध्याय ही इस प्रबन्ध का प्रमुख अध्याय है। इसमें प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक नाटक की पृथक-पृथक समीक्षा की गई है। प्रत्येक नाटक के वस्तु-पक्ष में यह स्पष्ट करने का प्रयास रहा है कि नाटककार इस नाटक में क्या कहना चाहता है? उसने उसे किस माध्यम एवं किस शैली से कहा है? उसमें वह कहाँ तक सफल हुआ है? और उसका सामाजिक मूल्य क्या है? शिल्प-पक्ष में कथानक विन्यास चरित्र चित्रण और संवाद संयोजन में नाटककार की कुशलता की शास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा की गई है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस प्रबन्ध में नाटकों के वर्गीकरण के पश्चात् भी प्रत्येक वर्ग की सामान्य प्रवृत्तियों के उल्लेख करने की शैली का अनुसरण नहीं किया गया। इसका मुख्य कारण यह है कि इन नाटकों के वस्तु तत्त्व के विषय में विभिन्न विरोधी मत पाए जाते हैं और ऐसी दशा में प्रत्येक नाटक का पृथक पृथक विवेचन न करने पर मेरा मत भी एक मत मात्र होकर रह जाता। और यदि विभिन्न विरोधी मतों का विश्लेषण एवं निराकरण करने का प्रयास किया जाता तो अतिशय विस्तार के कारण इस लघु प्रबन्ध का स्वरूप ही शायद चरमरा जाता। अतः विरोधी मतों को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण कृतित्व को विभिन्न दृष्टियों से अनावृत कर देना मात्र ही श्रेयस्कर समझा गया है।

अन्तिम अध्याय उपसंहार में तत्कालीन युग प्रवृत्तियों और यथार्थवादी नाटक-धारा के संदर्भ में मिश्रजी के नाटकों की प्रेरणा की मौलिकता को स्पष्ट करते हुए उन पर तथाकथित इब्सन और शा के अनुकरण के आरोप का विश्लेषण

करने का प्रयत्न किया गया है। इसी अध्याय में समस्त नाटकों की समीक्षा का सार भी संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। हिन्दी नाटक में उनके योगदान की चर्चा करते हुए वस्तु पक्ष एवं शिल्प पक्ष के साथ-साथ उनके नवीन प्रयोगों की उपादेयता की भी चर्चा की गई है। परवर्ती नाटकों को गति देने की दृष्टि से भी इन नाटकों का मूल्यांकन किया गया है। अन्त में हिन्दी नाटक में मिश्र जी का स्थान निर्धारित करने की दृष्टि से उनके नाटकों की तुलना उनके समकालीन तथा परवर्ती नाटककारों से भी की गई है।

इस प्रबन्ध में मैं मिश्रजी के नाटकों के महत्व को समझने में कहाँ तक सफल हुआ हूँ यह निर्णय तो विद्वज्जन ही करेंगे, परन्तु इस मंथन में मेरी चिन्तन शक्ति का विकास अवश्य हुआ है, मेरे लिए यही कम सन्तोषजनक नहीं। कोई भी तथ्य जब तक मेरे मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं हुआ मैंने उसे स्वीकार नहीं किया है। इसी कारण मिश्रजी के विषय में प्रचलित धारणाओं से कहीं-कहीं मेरा मतभेद भी हो गया है। ऐसे स्थलों पर मैंने अपने मस्तिष्क के सम्पूर्ण ऊहापोह को तर्क-वितर्क सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आदरणीय डा० विजयेन्द्र स्नातक जी रीडर हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के निर्देशन में ही इस प्रबन्ध के प्रणयन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। उनके संरक्षण में मेरी भ्रमित एवं स्तब्ध लेखनी ने समय-समय पर जो मार्ग पाया है, उसके लिए मेरा हृदय सदा ही उनके प्रति श्रद्धा से नत रहेगा। इस प्रबन्ध के लिखे जाने के पश्चात् भी उन्होंने समय-समय पर जो मेरी साहित्यिक रुचि को प्रोत्साहित किया है उससे जीवन संघर्ष में मुझे जो आत्मबल मिला है वह अमूल्य है। इसकी भूमिका लिखकर भी उन्होंने मुझे विशेष रूप से उपकृत किया है। उनके इस स्नेह को शब्दों की औपचारिकता द्वारा व्यक्त करने में हृदय को संकोच का अनुभव होता है।

श्रीयुत लक्ष्मीनारायणजी मिश्र का भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने मेरे सभी प्रश्नों का समय-समय पर स्पष्ट एवं विस्तृत उत्तर भेजकर मुझ अकिंचन के प्रति अपना स्नेह प्रदर्शित किया है। इस पुस्तक के लिए आशीर्वचन आदि दो शब्द लिख भेजने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर उन्होंने जो मेरे ऊपर कृपा की है इसके लिए मेरा हृदय उनका ऋणी रहेगा।

आदरणीय डा० नगेन्द्रजी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने एक बार शोध प्रबन्ध लिखने के सौभाग्य से वंचित रह जाने पर भी पुनः इसकी स्वीकृति देने की कृपा की। यदि एम० ए० में यह प्रबन्ध न लिखा गया होता तो आज जीवन की दशा दूसरी ही होती।

आदरणीय डा० हरिभजनसिंहजी अध्यक्ष हिन्दी विभाग, श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कालेज साहित्यिक क्षेत्र में मेरे प्रथम गुरु हैं। उन्हीं के चरणों में पाँच वर्ष तक बैठकर मैंने साहित्यिक कृतियों की ओर देखना सीखा है। प्रत्येक क्षेत्र में पूर्वाग्रह को छोड़कर, उनकी सत्य को खोजने की प्रवृत्ति ने मेरे जीवन को अप्रत्यक्ष रूप से विशेष प्रभावित किया है। उनके स्नेह ने मुझे निकट आने का अवसर देकर इसे और भी अनुकूल बना दिया। आज उनको यह पुस्तक समर्पित कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

श्री डा० दशरथ ओझाजी ने कतिपय अनुपलब्ध नाटकों को अपने ग्रन्थालय से पढ़ने के लिए देने की जो कृपा की है उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में जो रुचि नेशनल पब्लिशिंग हाउस के संचालक तथा उनके अन्य सहयोगियों की ओर से ली गई है उसके लिए भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मित्र बन्धु परिजन गुरुजन तथा विविध क्षेत्रों में सम्पर्क में आने वाले सभी जन मुझे अपने कार्य की पूर्ति में सहयोगी ही दिखाई दिए हैं। उन सबके प्रति आभार स्वीकार करता हुआ मैं प्रभु से प्रार्थना करूँगा कि वे सभी मेरे अनुकूल एवं सहायक बने रहें।

२४/१२ राजेन्द्र नगर
नई दिल्ली-५ भारतभूषण चड्ढा
विजयादशमी २०२१ वि०

विषय-सूची

तृतीय अध्याय सामाजिक नाटकों की समीक्षा

(क) समस्या नाटक

(ख) विचार प्रधान नाटक

(ग) समस्या एवं घटना प्रधान नाटक

चतुर्थ अध्याय उपसंहार

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

(क) लक्ष्मीनारायण मिश्र संक्षिप्त जीवन-परिचय

(ख) मिश्रजी से पूर्व हिन्दी नाट्य परम्परा

लक्ष्मीनारायण मिश्र

संक्षिप्त जीवन-परिचय

पाश्चात्य आलोचना-पद्धति में लेखक की जीवनी को एक विशिष्ट महत्त्व प्राप्त रहा है। लेखक के सामाजिक परिवेश एवं वातावरण के आधार पर उसके कृतित्व का आकलन और विश्लेषण भी किया जाता है। किसी सीमा तक यह विश्लेषण न्यायसंगत भी है परन्तु आज के जटिल जीवन में किसी के जीवन की मानसिक प्रतिक्रियाओं को जानने की न तो सुविधा है और न साधारण व्यक्ति में इस विश्लेषण की क्षमता ही। अतः मैंने जीवनी का अध्ययन केवल अपनी जानकारी बढ़ाने और मानसिक परितोष के लिए ही किया है अन्तश्चेतन के विश्लेषण के लिए नहीं। इस अध्याय में केवल मिश्रजी के भौतिक जीवन की स्थूल रेखाओं को निरपेक्ष भाव से अंकित करने का प्रयास किया गया है। इस जीवन-वृत्त का आधार उनके साथ किया गया मेरा पत्र-व्यवहार एवं पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का 'मैं इनसे मिला' नामक लेख है।

मिश्रजी का जन्म पौष शुक्ल १ सम्वत् १९६० विक्रमी (ईसवी सन् १९०३) को जिला आजमगढ़ के बस्ती नामक ग्राम में हुआ। आपके पिता पं० कमला-प्रसाद मिश्र अपने जिले के सम्मान्य और उच्चकुलीन व्यक्ति माने जाते थे। यद्यपि जन्म से आप वशिष्ठ गोत्री सार्वती मिश्र ब्राह्मण थे परन्तु आपके कुल के कर्म और संस्कार कई पीढ़ियों से क्षत्रियों जैसे ही रहे। लगभग सवा तीन सौ वर्ष पहले तक आपके पूर्वज जिला बस्ती के बढ़नी नामक ग्राम में एक विस्तृत भूखण्ड के स्वामी थे। इसके पश्चात् बढ़नी के पूर्व के नगर राज्य के राजा से इस वंश का युद्ध हुआ और इनके पूर्वजों को मूल स्थान छोड़ना पड़ा। वहाँ से वे अनेक स्थानों पर रुकते हुए देवरिया के मझौली राज्य में आए और वहाँ से ढाई सौ वर्ष के आस-पास आज के आजमगढ़ जिले के पूर्वी भाग में आ बसे। यहाँ भी आपके पूर्वजों को समाज में विशेष सम्मान और आदर प्राप्त था। प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम (१८५७) में आपके प्रपितामह भी आजमगढ़ में कुँवर सिंह के दरबार में सम्मिलित हुए थे। सामन्ती संस्कारों में पुश्तवारी मांसाहार

और पतरज तो इनके पिताजी के समय तक चलता रहा। ब्राह्मण वर्ग का मूल कर्म दान लेना इनके वंश में पूर्णतया निषिद्ध था। उसी आदर्श की मर्यादा में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी अपने विवाह में किसी प्रकार का दान-दहेज अपने श्वसुर से लेने से इनकार कर दिया। इस प्रकार कई पीढ़ियों से सामन्ती और अभिजात वर्ग के संस्कार होने के कारण इस वंश की परम्पराओं में ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व का एक अपूर्व सम्मिश्रण हो गया है।

मिश्रजी सात वर्ष की आयु तक रोगी और निर्बल रहे। इनका शरीर इतना दुर्बल था कि परिवार के व्यक्तियों को इनके जीवित रहने में भी सन्देह रहता था। बाल्यकाल में पढ़ने की प्रवृत्ति न होने पर भी पिताजी के भय और कठोर शासन के कारण उनका अध्ययन जारी रहा। विद्यारम्भ उनका घर में पाँच वर्ष की आयु में हुआ। गाँव की पाठशाला से चौथी श्रेणी और कोठी के मिडिल स्कूल से सातवीं श्रेणी पास कर वे सन् १९११ में इलाहाबाद के माडर्न हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए। यहीं उनकी अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ हुआ। परन्तु दूसरे ही वर्ष राष्ट्रीय विचारों के आकर्षण में वे वहाँ से सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल काशी चले आए। यहाँ सन् २१ २२ में हिन्दी के कई प्रतिभाशाली छात्र उनके सहपाठी थे जिनमें आज के हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के हिन्दू स्कूल से 'ऐडमिशन' की परीक्षा के बाद उन्होंने उसी विश्वविद्यालय में ई सन् १९२४ में इन्टर की ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश लिया। और ई० सन् १९२८ में राजनीति इतिहास और अंग्रेजी साहित्य विषयों के साथ बी० ए० की परीक्षा पास की।

मिश्रजी का विवाह सन् १९२१ में सम्पन्न हुआ था। विवाह के पाँच वर्ष बाद सन् १९२८ में उनके पहले पुत्र श्री विश्वम्भरनाथ मिश्र का जन्म हुआ। इसके पश्चात् पौने तीन-तीन वर्ष के अन्तर से उनके यहाँ हरीन्द्रनाथ मिश्र और रवीन्द्रनाथ मिश्र का जन्म हुआ। और तदुपरान्त अन्तिम बालक रवीन्द्र को बाल्यावस्था में ही छोड़कर उनकी धर्मपत्नी सन् १९३६ में परलोक सिधार गई। पत्नी के देहान्त के समय मिश्रजी की अवस्था कुल ३२ वर्ष की थी।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वस्थ दृष्टिकोण को खोजने की चाह आप में प्रारम्भ से ही रही। इसलिए छात्र जीवन से ही विभिन्न विषयों की पुस्तकों द्वारा आप अपने ज्ञान भण्डार को समृद्ध करते रहे। भारतीय साहित्य के प्रति तो आपकी दृढ़ आस्था थी ही विदेशी साहित्य को भी अपने ज्ञानवर्धन के लिए पढ़ते रहे। यूनानी शोकान्तिकाओं से लेकर योरोप के प्रायः सभी बड़े नाटक

कारों के नाटक भी वे पढ़ चुके हैं। मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के प्रधान ग्रन्थों से भी वे पूर्णतया परिचित हैं। परन्तु विदेशी साहित्य के ये ग्रन्थ उनके व्यक्तित्व को अभिभूत नहीं कर सके। उनको प्रभावित करने वाले ग्रन्थ हैं—वेद, उपनिषद्, गीता, श्रीमद्भागवत, संस्कृत और भाषा के काव्य ग्रन्थ, पतंजलि का योगसूत्र और वात्स्यायन का कामसूत्र। इस विस्तृत अध्ययन और चिन्तन के कारण ही भारतीय जीवन प्रणाली का वैज्ञानिक और तर्कसम्मत रूप आपके मस्तिष्क में स्थिर हो गया है।

युवावस्था में भी मिश्रजी के हृदय में राष्ट्र चिन्तना कितनी गहरी थी, स्वतन्त्रता की कितनी उत्कट अभिलाषा थी, यह 'संन्यासी' नाटक के राजनीतिक प्रसंगों से स्वयं मुखरित हो रहा है। उनके विचारों और सरगर्मियों से अंग्रेज सरकार को सन्देह हुआ और गुप्तचर सदा उनके पीछे लगे रहे। १९३२ में जब वे क्षय के असाध्य रोगी के रूप में लखनऊ के सबसे बड़े चिकित्सालय में भर्ती हुए तभी विदेशी सत्ता ने भी उन्हें निकम्मा समझकर कुछ काल के लिए सन्तोष किया। परन्तु सन् १९४२ में पुनः उन्हें अगुवा बनाकर आजमगढ़ जेल में नजरबन्द कर दिया गया।

साहित्य-सृजन की नैसर्गिक प्रतिभा के कारण मिश्रजी को लिखने का चस्का ११-१२ वर्ष की अवस्था में ही लग गया था। मिडिल स्कूल में छिपे-छिपे 'सरस्वती' के पन्नों में वे अपनी साहित्यिक वृत्ति को तृप्त करते रहते थे। उसी से प्रोत्साहित हो वे बैठे-बैठे कविता की तुकें जोड़ते रहते। कितनी तुकबन्दी हुई इसका स्मरण अब मिश्रजी को भी नहीं है। दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"आकण्ठ सुरसरि नीर में सब मनुज वे यों सोहते,
मानो विमल आकाश में नक्षत्र थे मन मोहते।"[1]

सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल, काशी के साहित्यिक वातावरण में ही मिश्रजी का साहित्य की ओर वास्तविक अर्थों में झुकाव हुआ और मैट्रिक की परीक्षा देते-देते सन् २१-२४ में आपने छायावादी कविता पुस्तक 'अन्तर्जगत' की रचना कर दी। और इसका प्रकाशन भी उन्हीं दिनों श्री शिवपूजन सहाय और श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा पुस्तक भण्डार लहेरियासराय की ओर से हो गया। 'अन्तर्जगत' के प्रकाशन के साथ ही छायावाद के अन्य यशस्वी कवियों का उत्थान हुआ। 'प्रसाद' जी का आँसू कई वर्ष बाद लिखा गया। इसके पश्चात् आप

१ 'मैं इनसे मिला' : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', पृष्ठ सं० ११८

नाटक रचना में प्रवृत्त हुए। इण्टर की माध्यमिक शिक्षा के भीतर ही आपने 'अशोक' नाटक की रचना की।

कॉलेज जीवन में ही भारतीय एवं विदेशी साहित्य के विविध ग्रन्थों के अध्ययन से उनके मस्तिष्क में भारतीय जीवन प्रणाली का वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत रूप स्थिर होने लगा। उन्होंने अनुभव किया कि हमारा नवयुवक समाज स्वत्व के अभिमान को त्याग कर पश्चिम के अन्धानुकरण से पतन की ओर जा रहा है। छात्र एवं छात्राएँ पाश्चात्य चकाचौंध में कई प्रकार के मनोविकारों से ग्रस्त हो रहे हैं। इन तथ्यों को उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने बड़ी गहराई से अनुभव किया। हृदय को ठेस पहुँची और इसका नग्न स्वरूप समाज के सामने रखने के लिए उन्होंने 'संन्यासी' नाटक की रचना बी० ए० के विद्यार्थी काल में ही कर दी। उस समय की भावनाओं के आवेग को स्वीकार करते हुए मिश्रजी स्वयं कहते हैं 'समस्या-नाटकों की रचना विवशता की देन है, वसी प्रकार जैसे प्रेम।'[1]

इसके पश्चात् उन्होंने क्रमशः 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' और 'आधी रात'—पाँच सामाजिक नाटक और लिखे। इसी बीच १० अगस्त १६३५ को उनके सगे अनुज गिरिजाशंकर की षड्यन्त्र द्वारा शत्रुओं ने रात को पलंग पर गहरी नींद में कत्ल की और वे स्वयं क्षय के असाध्य रोगी के रूप में चिकित्सालय में भर्ती हो गए जिससे उनकी लेखनी ने भी विश्राम लिया। भाई की हत्या के एक वर्ष के भीतर ही उनकी धर्मपत्नी भी चल बसी। और हमारे साहित्यकार के भावपक्ष, अनुराग और कर्म के सभी स्रोत सूख गए। सन् ३४ में उन्होंने 'आधी रात' लिखा था। तत्पश्चात् १२ वर्ष की लम्बी अवधि बीतने पर 'नारद की वीणा' लिखा गया। इस प्रकार सन् ३४ से सन् ४६ तक के बारह वर्षों के लिए हिन्दी साहित्य उनकी प्रतिभा से वंचित रहा।

सन् ४६ के पश्चात् सतत रूप से आपकी लेखनी माँ भारती के चरणों में एक से एक उत्तम नाटक अर्पित करती रही है। सन् ३४ तक आपने छह सामाजिक नाटक लिखे थे परन्तु ४६ के पश्चात् वे सांस्कृतिक नाटककार बन गए। उनके छह ऐतिहासिक एवं दो पौराणिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। युग-प्रवर्तक मनीषियों को आधार बनाकर भी उन्होंने तीन जीवनीमूलक नाटक लिखे और एकांकी-क्षेत्र में भी अपनी ख्याति प्राप्त की। महाभारत के कथा पट पर आधृत

1 वेदव्रत मिश्र, 'वर्त्तमान हमारे सम्मुख', पृष्ठ सं० १८१

महाकाव्य की रचना भी उन्होंने प्रारम्भ की थी जिसके चार सर्ग अभी शेष हैं। महात्मा गांधी की हत्या के पश्चात् वे उस काव्य की एक पंक्ति भी न लिख सके, मानो उनकी प्रेरणा का स्रोत ही सूख गया हो। इस अधूरी रचना को पूर्ण करने के अतिरिक्त शिवाजी पर दो नाटक और लिखने का विचार है।

आपकी प्रतिभा का प्रमुख गुण है—मौलिकता। इस मौलिकता के कारण युग की दिशा मोड़ने में आप सदा अग्रणी रहे हैं। छायावादी कविता अभी अंकुरित हो रही थी कि आपका 'अन्तर्जगत' प्रकाशित हुआ। नाट्य क्षेत्र में समस्या-प्रधान नाटकों के प्रथम प्रणेता भी आप हैं। इसके पश्चात् भारतीय रसवादी धारा को हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय भी आपको है। जीवनी को आधार बनाकर नाटक लिखने में भी केवल आप ही सफल हुए हैं।

आपका व्यक्तित्व प्रबल ही नहीं प्रखर भी है। आपके साहित्य, कला, जीवन दर्शन आदि के प्रति विचार सर्वथा निर्भ्रान्त और स्पष्ट हैं। 'जब बोलते हैं तो प्रबल प्रवाह परिपूर्ण झरने की भाँति उनकी वाणी का वेग श्रोता को चमत्कृत कर देता है।'[1] आपके प्रबल व्यक्तित्व का आभास इससे भी मिलता है कि आप पाण्डुलिपि लिखकर उसमें परिवर्तन नहीं करते।[2] आपके तर्कों में भी आपके व्यक्तित्व की प्रबलता अनुमानित की जा सकती है। आप जिस बात को कहना चाहते हैं उसे तर्कपूर्ण ढंग से कहते हैं कि आपका विरोधी भी उन तर्कों की अवहेलना नहीं कर सकता। नाटकों की भूमिकाओं में आपकी सुन्दर तर्कपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं। इन तर्कों के सुन्दर नियोजन का कारण है आपकी आत्मा के प्रति ईमानदारी। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने अपने सभी विचारों को अनुभूति में आत्मसात् कर लिया है इसीलिए किसी भी तर्क में शिथिलता नहीं।

आपके व्यक्तित्व में जहाँ इतना प्रबल आग्रह है वहाँ प्रत्येक नवीन विचार को ग्रहण करने की उदारता भी है। यही कारण है कि आपके विचार उत्तरोत्तर विकसित होते हुए पुष्ट होते गए। आपने अपने नाटकों के विषय लिया और उद्देश्य को जैसे उचित समझा बिना हिचकिचाहट के परिवर्तित किया। वास्तव में बुद्धि के निकष पर सत्य को परखने वाला व्यक्ति कभी भी रूढ़िवादी नहीं हो सकता। वह अपने तर्कों का निश्चय ही प्रबल प्रतिपादक पर दुराग्रही नहीं कहा जायगा।

प्रायः सभी दिशा परिवर्तन करने वाले कलाकारों को प्रारम्भिक काल में आलोचकों द्वारा उचित सम्मान नहीं मिलता। इसलिए उन्हें अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्य-सृजन के साथ-साथ जनरुचि का भी निर्माण करना पड़ता है। नाटककार ने

---

१ 'मैं इनसे मिला' पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' पृष्ठ सं० १४२

२ वही पृष्ठ सं० १४२

भी इसका अनुभव किया। उनका कथन है—

'प्रत्येक महान एवं मौलिक लेखक को जितने अंश में वह महान अथवा मौलिक है अपनी मौलिकता का आस्वादन कराने के लिए जनता की अभिरुचि का निर्माण करना चाहिए, अपनी ओर देखे जाने का दृष्टिकोण प्रदान करना चाहिए।'[1]

मिश्रजी भी इस विडम्बना के शिकार बने। यह एक संयोग की बात है कि भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हुए इस साहित्यकार को केवल यथार्थवादी शैली के कारण आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान आलोचक ने विदेशी प्रभाव में देखा। और तभी से सभी आलोचक आपको उसी दृष्टि से देखते रहे। सहानुभूति और सहृदयता से विचार करना तो दूर कई आलोचक तथ्यों की भी अवहेलना कर गए। श्री ब्रजरत्नदास ने अपने इतिहास 'हिन्दी नाट्य साहित्य' में मिश्रजी के 'अशोक' नाटक पर प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' की छाया बताई जबकि 'अशोक' 'चन्द्रगुप्त' से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था। आलोचना में न्याय न मिलने के कारण मिश्रजी को अपने नाटकों की भूमिकाओं में स्वयं अपना पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा। अद्यावधि प्राप्त आलोचना-सामग्री में केवल इन नाटकों की भूमिकाएँ ही नाटकों को समझने में सहायक होती हैं। परन्तु सूर्य का प्रकाश कब तक मेघाच्छन्न रहता। समय के साथ-साथ विद्वानों ने आपके नाटकों की महत्ता को स्वीकार किया। आपके कई नाटक उच्च कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों के रूप में स्वीकृत हुए। आप कई साहित्यिक अधिवेशनों में सभापति निर्वाचित किए गए। अखिल भारतीय रामायणी सम्मेलन के संयोजक श्री पद्मनारायण आचार्य और स्वागताध्यक्ष श्री वेणीशंकर झा उपकुलपति हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी तथा उक्त सम्मेलन के सदस्य मण्डल की ओर से आपको सन् १९५८ में एक मानपत्र भेंट किया गया। उसी मानपत्र की दो पंक्तियाँ—

"'अन्तर्जगत की ज्योति से
प्रदित किया आँसू की बूँद-बूँद।

से साहित्य के इतिहास की एक घटना स्वीकार कर मिश्रजी की युगप्रवर्तक प्रतिभा का उचित सम्मान किया गया।

मिश्रजी स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना करते हैं। जीविका के लिए नौकरी

---

१ "Every great and original writer in proportion as he is great or original, must create the taste by which he is to be relished, he must teach the art by which he is to be seen."
—Wordsworth Prose & Poetry edited by Oxford, Page 181

करना उन्हें अभीष्ट नहीं। आप सहज सहानुभूति न मिलने की स्थिति में भी अपने जीवन और आदर्श दोनों की रक्षा साहित्य के माध्यम से करते रहे यह अद्भुत ही है।

"भारतीयता उनका प्राण है पर रूढ़िवादिता के वे घोर शत्रु हैं। उनकी भारतीयता की अपनी मौलिक व्याख्या है। जिसमें वे अपने ढंग से युग की उन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव मानते हैं जिनके लिए हम पाश्चात्य संस्कृति की ओर देखते हैं। स्पष्टता उनका सबसे बड़ा गुण है। उनके तर्क अकाट्य होते हैं और उनके पीछे पर्याप्त चिन्तन और मनन की शक्ति रहती है।"[1]

१ 'मैं इनसे मिला' : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' पृ० सं० १३५

भी इसका अनुभव किया। उनका कथन है—

'प्रत्येक महान एवं मौलिक लेखक को जितने अंश में वह महान अथवा मौलिक है, अपनी मौलिकता का आस्वादन कराने के लिए जनता की अभिरुचि का निर्माण करना चाहिए, अपनी ओर देखे जाने का दृष्टिकोण प्रदान करना चाहिए।[1]

मिश्रजी भी इस विडम्बना के शिकार बने। यह एक संयोग की बात है कि भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हुए इस साहित्यकार को केवल यथार्थवादी शैली के कारण आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान आलोचक ने विदेशी प्रभाव में देखा। और तभी से सभी आलोचक आपको उसी दृष्टि से देखते रहे। सहानुभूति और सहृदयता से विचार करना तो दूर कई आलोचक तथ्यों की भी अवहेलना कर गए। श्री ब्रजरत्नदास ने अपने इतिहास 'हिन्दी नाट्य साहित्य' में मिश्रजी के 'अशोक' नाटक पर प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' की छाया बताई जबकि 'अशोक' 'चन्द्रगुप्त' से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था। आलोचना में न्याय न मिलने के कारण मिश्रजी को अपने नाटकों की भूमिकाओं में स्वयं अपना पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा। अद्यावधि प्राप्त आलोचना-सामग्री में केवल इन नाटकों की भूमिकाएँ ही नाटकों को समझने में सहायक होती हैं। परन्तु सूर्य का प्रकाश कब तक मेघाच्छन्न रहता। समय के साथ-साथ विद्वानों ने आपके नाटकों की महत्ता को स्वीकार किया। आपके कई नाटक उच्च कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों के रूप में स्वीकृत हुए। आप कई साहित्यिक अधिवेशनों में सभापति निर्वाचित किए गए। अखिल भारतीय कामायनी सम्मेलन के संयोजक श्री पद्मनारायण आचार्य और स्वागताध्यक्ष श्री वेणीशंकर झा उपकुलपति हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी तथा उक्त सम्मेलन के सदस्य गण की ओर से आपको सन् १९५८ में एक मानपत्र भेंट किया गया। उसी मानपत्र की दो पंक्तियों—

"'अन्तर्जगत' की ज्योति से,
प्रदीप्त किया 'आँसू' की बूँद-बूँद।"

में साहित्य के इतिहास की एक घटना स्वीकार कर मिश्रजी की युगप्रवर्तक प्रतिभा का उचित सम्मान किया गया।

मिश्रजी स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना करते हैं। जीविका के लिए नौकरी

१ "Every great and original writer in proportion as he is great or original, must create the taste by which he is to be relished, he must teach the art by which he is to be seen."

—Wordsworth Prose & Poetry edited by Oxford Page 181

करना उन्हें अभीष्ट नहीं। आप सहज सहानुभूति न मिलने की स्थिति में भी अपने जीवन और आदर्श दोनों की रक्षा साहित्य के माध्यम से करते रहे यह अद्भुत ही है।

भारतीयता उनका प्राण है पर रूढ़िवादिता के वे घोर शत्रु हैं। उनकी भारतीयता की अपनी मौलिक व्याख्या है। जिसमें वे अपने ढंग से युग की उन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव मानते हैं जिनके लिए हम पाश्चात्य संस्कृति की ओर देखते हैं। स्पष्टता उनका सबसे बड़ा गुण है। उनके तर्क अकाट्य होते हैं और उनके पीछे पर्याप्त चिन्तन और मनन की शक्ति रहती है।"[1]

---

१ 'मैं इनसे मिला' : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' पृ० सं० १४५

मिश्रजी से पूर्व हिन्दी नाट्य परम्परा

हिन्दी नाटक को जन्म के साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे प्रतिभाशाली और प्राणवान् कलाकार का आश्रय प्राप्त हुआ। फलतः प्रारम्भ से ही उसका बहुमुखी विकास प्रारम्भ हो गया। भारतेन्दु काल में ही नाटकों की कई श्रेणियाँ हो गईं जो अन्य धाराओं को प्रस्फुटित करती हुई उत्तरोत्तर विकास करती गई। इस काल के नाटकों को प्रमुख रूप से इन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक ऐतिहासिक राष्ट्रीय रोमांटिक सामाजिक और व्यंग्यात्मक (प्रहसन)।

पौराणिक धारा

भारतेन्दुकालीन नाटकों की दो धाराएँ थीं—पौराणिक और ऐतिहासिक। उन्नीसवीं शती में पौराणिक धारा प्रबल रही। इसमें रामलीला और रासलीला के अत्यधिक प्रचार का विशेष योग है। उन्नीसवीं शती के मध्यकाल में लिखे गए नाटक जैसे—विश्वनाथ सिंह जी रीवाँ नरेश का 'आनन्द रघुनन्दन' मनु का 'हनुमान नाटक' कृष्ण शर्मा बाबू का 'रामलीला विहार नाटक' हरिराम का 'जानकी चरित' गोपालचन्द्र का 'नहुष' आदि इस बात के अवेध्य प्रमाण हैं कि रामलीला आदि से प्रभावित धार्मिक जनता प्रारम्भ में पौराणिक नाटकों की ओर स्वाभाविक रूप से उन्मुख हुई। इन नाटकों की रचना प्रमुखतः दो उद्देश्यों की पूर्ति से की जाती थी—एक तो अपने पूर्वजों का स्मरण दिलाकर प्राचीन गौरव को उद्बुद्ध करने के लिए और दूसरे पौराणिक चरित्रों के आधार पर उच्च भारतीय आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा करने तथा नवीन युग-चेतना को प्रतिभासित करने के लिए। इस नाटक-धारा में नाटककारों के लिए भी कम आकर्षण न था। कथानक चयन सुगम भी था और सरल भी। कथा विकास के लिए प्रत्येक घटना को एक-एक दृश्य अथवा अंक में रखकर अन्तिम घटना के उद्देश्य की पूर्ति कर दी जाती थी। कथानक में मौलिकता दिखाने का आग्रह ही न था। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता दिखाने की न तो आवश्यकता समझी

विकास संस्कृत नाट्यशास्त्र की पद्धति के अनुसार कार्यावस्थाओं तथा सन्धियों के नियमों के आधीन शिथिल गति से हुआ। कथानक संगठन में सम्बद्धता और घटनाओं में समानुपात के बोध को लक्षित करते हुए डा० श्रीकृष्णलाल लिखते हैं 'तीन सौ वर्षों तक मुक्तकों के अभ्यस्त होने के कारण हिन्दी कवियों का मस्तिष्क और प्रतिभा कुछ ऐसे सांचे में ढल गई थी कि वे जीवन के केवल किसी विशेष अंग की चमत्कारपूर्ण भावनाओं पर ही दृष्टि डाल पाते थे। इसलिए जब इन कवियों ने नाटक लिखना प्रारम्भ किया तो वे जीवन की कुछ अद्भुत घटनाओं का संकलन एक अव्यवस्थित कहानी के रूप में कर सके जिसमें न तो कार्यों की एकरूपता होती न कथानकों का अबाध प्रवाह। उनमें कुछ दृश्य ऐसे भी होते जिनका नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध ही न होता और अनेक ऐसे दृश्य भी होते जिनका केवल उल्लेख मात्र ही पर्याप्त होता। उदाहरण के लिए राधाकृष्णदास के प्रसिद्ध नाटक 'महाराणा प्रतापसिंह' या 'राजस्थान केसरी' में प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य और चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य नाटक के मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और वह बिना किसी बाधा के नाटक से निकाले जा सकते हैं।'[1]

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी इस युग के नाटकों का विशेष महत्त्व नहीं। 'ऐसा जान पड़ता है कि नाटक के पात्र स्वयं न तो कुछ बोल ही सकते हैं न उनका कोई व्यक्तित्व ही है वे गूंगे और बहरे-से खड़े रहते हैं और कवि नाटककार ही उनके पीछे खड़े होकर बोला करते हैं।'[2] संवादों की दृष्टि से तो इन नाटकों की स्थिति और भी शोचनीय है। 'साधारणतः भाषण नाटकीय कार्यों की भूमिका और उपसंहार के रूप में—कार्य के परिचय के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।'[3] 'संलाप अस्वाभाविक और असंगत है। उनमें न तो समानुपात का बोध (Sense of proportion) है न निर्देशन (direction)। हां! उनमें रीतिकवियों की वाग्विदग्धता और दूर की सूझ बूझ ही थी। चन्द्रावली नाटिका से चन्द्रावली के वियोग का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए डा० श्रीकृष्णलाल अपने इतिहास में लिखते हैं 'ऐसा मालूम होता है कि चन्द्रावली और ललिता रीतिकाल की कोई कवि हैं जो समय-असमय की उपेक्षा करके केवल सुन्दर मुक्तकों की रचना करने का बहाना निकालकर कविता पढ़ रही हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य तो अवश्य है, परन्तु नाटक के लिए जिस महाकाव्यत्व और कोमल भावनाओं की व्यंजना

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्णलाल पृ० २०७
२. वही, पृ० २०८
३ वही पृ० २०४
४ वही, पृ० २०८

उपयुक्त होती है वह इनमें नहीं।[1]

भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुकरण से प्रारम्भ किया और समय की गति के अनुसार पाश्चात्य नाट्यशास्त्र एवं जनता की रुचि के प्रभाव से नाटकीय विधानों में अनेक परिवर्तन किए। नान्दी के पालन में शिथिलता आ गई। प्रस्तावना का भी कई नाटकों में लोप हो गया। अंकों की संख्या और उनका विभाजन औपचारिकतावश ही होता था।

इस धारा में कला के विकास के प्रथम दर्शन बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन दहन' (१९१२) में होते हैं। इसी स्कूल के गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला' माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' और सुदर्शन कृत 'अंजना' आदि नाटकों में भी इस विकास का स्पष्ट परिचय मिलता है। इनका वस्तुविन्यास सरल एकहरा और सुसम्बद्ध होने के कारण सफल है। कथानक में संघर्ष का स्वरूप भी अधिक स्पष्ट है। यद्यपि इन नाटककारों की दृष्टि रूपात्मक सौन्दर्य और क्रम-विकास की ओर ही अधिक गई है तथापि इनमें चरित्रों का सुन्दर सृजन है। संलापों में यथार्थवाद का निर्वाह हुआ है।

इस धारा में कला का चरम विकास प्रसाद के नाटकों में हुआ। प्रसादजी के प्रमुख ऐतिहासिक नाटक हैं—'राज्यश्री' (१९१५) 'विशाख' (१९२१) 'अजातशत्रु' (१९२२) 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६) 'स्कन्दगुप्त' (१९२८) 'चन्द्रगुप्त' (१९३१)। यद्यपि लक्ष्मीनारायण मिश्र का प्रथम सामाजिक नाटक 'संन्यासी' (१९२७) में प्रकाशित हो गया था तथापि मिश्रजी के सामाजिक नाटकों के समकालीन होने के कारण स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त का विवेचन भी पूर्व परम्परा के अन्तर्गत करना ही समीचीन समझा गया है। प्रसादजी के नाटकों में इतिहास के पृष्ठाधार पर सांस्कृतिक सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक आदि विभिन्न स्वरूपों की अनुपम झाँकियाँ प्रस्तुत की गईं। उनके व्यापक जीवन-दर्शन और निगूढ़ युग-सन्देशों ने उनकी विषयवस्तु को नवीन महत्त्व प्रदान किया।

इन नाटकों में मुख्य कथानक के अतिरिक्त पाँच-छह कथानकों के समावेश के कारण कथानक का क्रम-विकास बड़ा जटिल हो गया है परन्तु प्रसादजी की अप्रतिम प्रतिभा इसका बहुत अंशों तक सुसम्बद्ध निर्वाह करने में सफल हुई है। नाटकों में संघर्ष के स्वरूप एवं उसमें उत्तरोत्तर बढ़ने वाली तीव्रता के कारण भी एक अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। चरित्र चित्रण में प्रसाद के नाटकों ने हिन्दी

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्ण लाल पृ० २१६

नाटक में युगान्तर स्थापित किया है। इन्हीं नाटकों में पात्रों को पहली बार व्यक्तित्व प्राप्त हुआ है। प्रसाद ने अपने पात्रों को अधिक से अधिक सहानुभूति दी और उनके अन्तर्द्वन्द्वों तथा बाह्य संघर्षों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से चित्रित किया। वस्तुतः इन नाटकों की सफलता का एक प्रमुख रहस्य वज्र से भी कठोर और शिरीष पुष्प से भी कोमल पात्रों के चरित्रांकन में ही है। इन नाटकों में काव्यत्व के समावेश के कारण एक अपूर्व मार्मिकता आ गई है। नाटकीय दृष्टि से यह उनकी कमजोरी है परन्तु इसी कमजोरी में उनकी महत्ता अनुस्यूत है। कठोर से कठोर और कोमल से कोमल भाव की व्यंजना के तो वह अद्भुत शिल्पी हैं।

प्रसाद के नाटकों में आकर नाटकीय विकास भी कुछ स्थिर रूप ग्रहण करने लगे थे। हिन्दी की आदर्शवादी धारा की एक अपनी परम्परा सुस्थिर होने लगी। इस काल के नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य कला का यथार्थवाद और रंगमंच की सुविधाएँ तो ले लीं परन्तु संस्कृत का कवित्वमय वातावरण नहीं जाने दिया। पाश्चात्य प्रभाव से प्रस्तावना का अन्त हुआ और नाटक में कथानक वैचित्र्य और कथानक-सौन्दर्य की प्राण प्रतिष्ठा हुई। अंकों को दृश्यों में विभाजित किया गया परन्तु कवित्व की रक्षा के लिए पद्यगीतों और गानों का उपयोग किया गया। नाटकीय विधानों में रंगमंच और कथानक-वैचित्र्य के लिए अनेक प्रयोग किए गए परन्तु कवित्व आदर्शवाद और काव्य न्याय के विषय में इन्होंने संस्कृत नाटकों का आदर्श ही ग्रहण किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी के आविर्भाव के समय में आदर्शवादी धारा अपने चरम विकास पर स्थित थी।

राष्ट्रीय भावना की नाटक-धारा

भारतेन्दु ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार के लिए 'प्रेमयोगिनी' 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक लिखे थे। इनकी परम्परा भी खूब चली। अम्बिकादत्त व्यास का 'गोसंकट' और 'भारत सौभाग्य' खड्ग बहादुर मल्ल का 'भारत ललना' जगत-नारायण शर्मा का 'भारत दुर्दिन' बद्रीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' इस धारा की प्रारम्भिक काल की रचनाएँ हैं। वस्तुतः नाटक प्रचार का माध्यम नहीं इसलिए राष्ट्रवाद के परिष्कृत स्वरूप की छाया तो आगे के नाटकों में प्रबल है। परन्तु इसका स्थूल प्रचार उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों में कम ही दृष्टिगत होता है। प्रसाद के नाटक तो मानो राष्ट्रवाद की आधार-भूमि पर ही खड़े हैं।

रोमांटिक नाटक-धारा

इस धारा के प्रवर्तन में पाश्चात्य संस्कृति पारसी रंगमंच तथा उर्दू एवं रीतिकालीन शृंगारी प्रेम का सर्वाधिक प्रभाव है। इन नाटकों के कथानकों पर परवर्ती प्रेमाख्यानकों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। इनमें नायक नायिकाओं को प्राप्त करने में अपूर्व साहस दिखाते हैं और वियोग म विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला में जलते हैं। इनकी नायिकाओं पर तो यह प्रभाव और भी स्पष्ट है 'प्रेममोहिनी और मयंक मंजरी आदि नायिकाएँ टिपिकल रीतिकालीन हैं जो तत्कालीन चुहलबाजी छेड़छाड़, तीरंदाज और इशारेबाजी की कला में प्रवीण हैं। फिर भी इनका प्रेम ऐकान्तिक और एकनिष्ठ है।'[1]

भारतेन्दु के नाटकों में इस धारा का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। 'चन्द्रावली नाटिका' मे कुछ लोग इस श्रेणी के प्रेम का संधान पाते हैं परन्तु चन्द्रावली नाटिका स्वच्छन्द प्रेम का नहीं भक्ति का काव्य है।'[2] इसे आध्यात्मिक प्रेम की कोटि में रखा जा सकता है। इस धारा के प्रमुख नाटक हैं—लाला श्रीनिवास दास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' (१८८०) और 'तप्ता संवरण' (१८८३) अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' (१८८४) अमनसिंह गोतिया की 'मदन मंजरी (१८८४) किशोरीलाल गोस्वामी की 'मयंक मंजरी आदि। इन नाटकों का प्रमुख उद्देश्य भी लोगों को उपदेश देना ही है। रणधीर और प्रेम मोहिनी' की भारतेन्दु लिखित प्रस्तावना में सूत्रधार इसका स्पष्ट उल्लेख करता है। वस्तु विन्यास चरित्र-चित्रण संवाद आदि की दृष्टि से इन नाटकों में भारतेन्दु काल के अन्य नाटकों से कोई वैशिष्ट्य नहीं।

वस्तुत प्रेम मानव की एक शाश्वत प्रवृत्ति है और संसार के अधिकांश नाटक इसी का आधार बनाकर लिखे जाते हैं। प्रेम के स्वरूप में युग विशेष के अनुरूप परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक विचारधारा इसका विश्लेषण अपने दृष्टिकोण से करती है। भारतेन्दु काल में रीतिकालीन परम्परा के अवशेषों के कारण रीतिकालीन रोमांस के विकृत प्रेम की स्पष्ट झलक मिलती है। युग के विकास के साथ परवर्ती नाटकों में प्रेम के स्वरूप में भी अन्तर आ गया। द्विवेदी युग के सुधारवाद में इस धारा का स्वरूप आदर्शवाद में बदल गया जिसकी स्पष्ट छाप प्रसाद क नाटकों में मिलती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटकों में भी स्वच्छन्दतावादी भावों का समावेश हुआ है परन्तु उनकी स्वच्छन्द

---

१ हिन्दी नाटक : डा० बच्चनसिंह पृ० ४

२ हिन्दी साहित्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०२

प्रवृत्ति रीतिकालीन रोमांस से सर्वथा भिन्न है। इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति का विवेचन तो पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क के अतिरिक्त विज्ञान और उद्योग के विकास से उद्भूत व्यक्तिवाद उपयोगितावाद और बुद्धिवाद के अन्तर्गत किया जा सकता है।

प्रहसन

प्रहसन भारतेन्दु-युग के नाटकों की प्रधान विशेषता है। संस्कृत के प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य हास्य-विनोद की सृष्टि करना था परन्तु हिन्दी में इनका उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक कुरीतियों और दोषों पर हास्य मिश्रित व्यंग्य करना हो गया। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वैचारिक क्रांति का यह युग इनकी रचना के अनुकूल ही था। एक ओर नवीन विचारों के आलोक में प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं पर व्यंग्य किए गए, दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता के चक्कर में पड़ने वाले लोग भी व्यंग्य और हास्य के आलम्बन बने। पहले प्रकार के प्रहसनों के आलम्बन हुए अन्धविश्वासी रूढ़िवादी धर्म की ओट में अपना उल्लू सिद्ध करने वाले पंडे पुरोहित धर्मगुरु वेश्यागामी पुरुष और दूसरे प्रकार के प्रहसनों के मुख्य आलम्बन हैं पाश्चात्य संस्कृति म डूबे हुए नवशिक्षित। इस काल के लेखकों की दिलचस्पी ने इन नाटकों के विकास में विशेष सहयोग दिया।

इस धारा के प्रवर्तन का श्रेय भी भारतेन्दु को ही है। उनके 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६) अन्धेर नगरी' (१८८१) नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। इसके अतिरिक्त देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नार सिंह की' (१८९३) 'बैल छः टके को' एक एक के तीन तीन' (१८७९) 'कलियुगी जनेऊ' (१८८२) राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८७) किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' (१८९१) और प्रताप नारायण मिश्र का कलि कौतुक' भी अधिक प्रसिद्ध हुए। इनमें भारतेन्दुजी के नाटकों के व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक तीखे एवं हास्य उच्चकोटि का और शिष्ट है।

द्विवेदी काल में प्रहसनों के विषयवस्तु और शैली का बहुत कुछ विकास हुआ। प्रमुख विषय थे पंडे पुरोहित और वेश्यागामी पुरुष आदि। इसके अतिरिक्त इस काल के प्रहसनों में वकील। तथा डाक्टरों और धनोपार्जन के कुत्सित उपायों सुधारकों तथा प्रचारकों नए फैशन के प्रेमी नवयुवकों और नवयुवतियों रायबहादुरों और आनरेरी मैजिस्ट्रेटों वेश्याओं तथा उनकी वेशभूषा, साधुओं के पाखण्ड तथा साधुओं के बीच व्यवहार और व्यभिचार आदि पर हास्य और

व्यंग्य की सृष्टि की गई है।[1]

इस काल के प्रमुख प्रहसन हैं जी॰ पी॰ श्रीवास्तव के 'उलट फेर' 'दुमदार आदमी' 'गड़बड़झाला' 'मरदानी औरत', गोविन्दवल्लभ पन्त की 'कंजूस की खोपड़ी' बद्रीनाथ भट्ट का 'लबड़ धौंधौं' 'विवाह विज्ञापन' 'मिस अमरीकन' बेचन शर्मा उग्र का 'उजबक' तथा 'चार बेचारे' और सुदर्शन का 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' आदि। जी॰ पी॰ श्रीवास्तव के नाटकों में फूहड़ हास्य की सृष्टि है। सुदर्शन भट्ट और उग्रजी की रचनाओं में उच्चकोटि के तथा शिष्ट हास्य और तीखे व्यंग्य की कमी नहीं परन्तु इन्होंने बहुत थोड़े प्रहसनों की रचना की है। 'इन प्रहसनों ने अगले काल में यथार्थवादी नाटकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया आगामी काल के समस्या-नाटकों के लिए जनता को तैयार कर दिया।'[2]

सामाजिक नाटक

भारतेन्दु काल के सामाजिक नव-जागरण में नाटककार सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिए भी प्रवृत्त हो गए थे। तत्कालीन समस्याओं का मुख्य केन्द्र नारी-समस्या थी जिसके मूल में प्राचीन आदर्शों और नवीन विचारों का समन्वित सुधारवादी दृष्टिकोण था। एक ओर पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गई तो दूसरी ओर बाल-विवाह पर्दा-प्रथा का विरोध और स्त्री शिक्षा' तथा 'विधवा विवाह' आदि का समर्थन किया गया। इस काल के प्रमुख सामाजिक नाटक हैं बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम' (१८७७) राधाकृष्ण दास का 'दुःखिनी बाला' (१८८०) लाला जवाहरलाल वैद्य का 'कमल मोहिनी भँवरसिंह नाटक' (१८९५) और बाबू गोपाल राम गहमरी का 'विद्या विनोद'। 'जैसा काम वैसा परिणाम' में एक ओर जहाँ नारी के पातिव्रत्य की प्रतिष्ठा की गई है वहाँ दूसरी ओर बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से मदिरापान और वेश्यागमन के बुरे परिणामों को दिखाया गया है। 'दुःखिनी बाला' में बाल-विधवा की मानसिक परिस्थिति का चित्र स्पष्ट करते हुए विधवा विवाह की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। प्रविधि की दृष्टि से यह नाटक विशेष महत्व नहीं रखते। परन्तु इनसे यह स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि नाटककार सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए उनके यथार्थ के प्रति भी जागरूक होने लगे थे।

---

१ हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : वेदपाल खन्ना 'विमल' पृ० १८१

२. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास वेदपाल खन्ना 'विमल' पृ० १९१

द्विवेदी-युग में अन्य सामाजिक नाटक भी लिखे गए। इनमें जमुनादास मेहरा का 'पाप परिणाम' मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५) मुंशी प्रेमचन्द का 'संग्राम' (१९२२) लक्ष्मणसिंह का 'गुलामी का नशा' (१९२४) जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन (१९२३) और बलानन्द का 'समाज' (१९३०) उल्लेखनीय हैं। 'पाप परिणाम' से वेश्यागमन एवं स्वच्छन्द प्रेम आदि अनेक कुरीतियों पर प्रकाश डाला गया है। 'समाज' में अछूतोद्धार के सन्दर्भ में प्रेम की समस्या का चित्रण किया गया है। 'संग्राम' में प्रेमचन्द ने जमींदारों और किसानों के संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन नाटकों में यथार्थवादी वातावरण है और सभी चरित्र यथार्थ और सच्चे हैं।

कला की दृष्टि से यह नाटक कोई महत्त्व नहीं रखते। उनकी यथार्थवादिता ही उनकी दुर्बलता है। 'यथार्थवादी नाटकों में नाटककार एक सामान्य चरित्र लेकर प्रतिदिन के जीवन का यथार्थ चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। उनमें पद पद पर यथार्थ जीवन के अनुकरण की धुन में जीवन के अनावश्यक पक्षों के चित्रण की आशंका सर्वदा बनी रहती है और कोमल उद्गारों तथा भावुक क्षणों के लिए उपयुक्त अवसर नहीं होता। यथार्थवादी नाटकों को प्रभावपूर्ण शक्तिशाली और आकर्षक बनाने के लिए एक अत्यन्त आवश्यक बात अर्थत्व और सार्थकता (Significance) है। सार्थकता से रहित यथार्थवादी नाटक इतना ही गद्यात्मक (Prosaic) और प्रभावहीन होता है जितना कवित्वपूर्ण भावों तथा कोमल उद्गारों से रहित आदर्शवादी नाटक। इन सामाजिक और राजनीतिक नाटकों में शक्तिशाली तथा गम्भीर सार्थकता का नितान्त अभाव मिलता है।'[1]

पारसी रंगमंच

इन नाटक-धाराओं को प्रभावित करने वाली दो धाराएँ हैं—पहली पारसी रंगमंचीय धारा और दूसरी अनुवाद की धारा। पारसी रंगमंच का आगमन भारतवर्ष में हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के आविर्भाव के साथ ही हुआ। १८७० ई० में ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी की स्थापना हुई। इस परम्परा ने घरेलू रंगमंच के स्थान पर शेक्सपीरियन रंगमंच की भारतीय वातावरण के अनुकूल प्रस्थापना की। नाटकों का वातावरण उर्दू काव्य की शैली छेड़छाड़ और शराब तथा बाजारू प्रेम रखा कथानक फारसी की प्रेमकथाओं अंग्रेजी साहित्य की रोमांचकारी घटनाओं नाटकों और आख्यानों तथा पुराणों की मनोरंजक कथाओं

१ श्रीकृष्णलाल आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ २९८

के लिये और मनोरंजन की सामग्री जनता में प्रचलित वेश्याओं नीच नाच-गानों तथा भांडों से उधार ली। इस परम्परा में धनोपार्जन के लक्ष्य में नाट्यकला का वास्तविक स्वरूप न उभर सका। इससे एक हानि यह हुई कि जनसाधारण में नाटकों के प्रति प्रारम्भ से ही एक गलत धारणा बन गई और वे इसे अनैतिक भावनाओं का प्रेरक तथा विलास की सामग्री मानने लगे। इसी संस्कार के कारण राष्ट्रीय रंगमंच न बन सका और उसी के फलस्वरूप साहित्यिक नाटकों का विकास भी द्रुतगति से न हो पाया। इस धारा में बीसवीं शताब्दी में आकर जन साधारण को आकृष्ट करने के लिए पौराणिक आख्यानों को भी आधार बनाया गया परन्तु कला के स्वरूप में विशेष अन्तर न आया। आगे चल कर चलचित्र के निर्माण के कारण तो इसका विकास ही मन्द पड़ गया।

अनूदित नाटक

अनुवाद करने की प्रवृत्ति हिन्दी नाटक-धारा में प्रारम्भ से ही चल पड़ी थी। ये अनुवाद अधिकतर संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों से होते थे। भारतेन्दु काल में संस्कृत नाटकों के अनुवादों ने हिन्दी नाटक-धारा को प्रभावित किया और संस्कृत नाट्यशास्त्र के स्थूल नाटकीय विधानों—नान्दी सूत्रधार प्रस्तावना आदि का पालन हुआ। बंगला से गिरीश घोष और डी॰ एल॰ राय के नाटकों का अनुवाद हुआ। गिरीश घोष पाश्चात्य के यथार्थवादी नाटकों से प्रभावित थे और द्विजेन्द्रलाल राय शेक्सपीयर के तथा संस्कृत नाट्यशास्त्र के कवित्वपूर्ण वातावरण से। हिन्दी में नाट्यकला में गिरीश घोष का अनुकरण न हुआ परन्तु द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटकों का विशेष प्रभाव पड़ा। वास्तव में पाश्चात्य नाट्य-कला का हिन्दी नाटक पर सीधा प्रभाव न पड़ कर द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से ही पड़ा। अंग्रेजी नाटकों का भी अनुवाद हुआ परन्तु इससे अंग्रेजी साहित्य की जानकारी तो बढ़ी पर नाट्य-कला पर सीधा प्रभाव न पड़ा। हिन्दी नाटकों पर अंग्रेजी-साहित्य-शास्त्र का प्रभाव अंग्रेजी जानने वालों द्वारा ही पड़ा। अनुवादों ने तो अंग्रेजी न जानने वालों को अंग्रेजी साहित्य का परिचय मात्र करवाया।

इस प्रकार सभी धाराओं की कला के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूपों के विवेचन के पश्चात् एक बात स्पष्ट होती है कि जिस नाटक के स्वरूप को स्थिर करने के लिए भारतेन्दु काल से भिन्न भिन्न प्रयोग हुए उसकी आदर्शवादी धारा का स्वरूप १९१२ ई॰ के लगभग 'कुरुवन दहन' और 'वरमाला' आदि नाटकों के निर्माण के साथ स्थिर और पुष्ट रूप धारण करने लगा। इस स्वरूप का चरम

विकास प्रसाद की नाट्य-कला में हुआ। इसमें आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद के साथ कवित्वपूर्ण वातावरण का अपूर्व समन्वय है और व्यक्ति-वैचित्र्य, अन्तर्द्वन्द्व तथा संघर्ष इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। यथार्थवादी धारा की अवस्था निम्न स्तर पर होने पर भी विकास के लिए बीज वर्तमान थे। युग-चेतना के विकास ने इसमें विशेष सहयोग दिया और यथार्थवादी धारा में लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटकों का आविर्भाव हुआ।

द्वितीय अध्याय

सैद्धान्तिक विवेचन

(क) नाटक

(ख) समस्या-नाटक

(ग) मिश्रजी के नाटकों का वर्गीकरण

नाटक

परिभाषा और तत्त्व

नाटक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर से देखने में जितना सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, साहित्यिक दृष्टि से उसे किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना उतना ही कठिन है। विश्व-साहित्य में नाटक कहे जाने वाले सभी रूपों में इतना अधिक वैभिन्न्य है कि उनके आधार पर नाटक के साहित्यिक स्वरूप की परिभाषा प्रस्तुत करना भी अपने आप में एक कला है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक के दस भेद हैं और प्रत्येक भेद के अलग-अलग रूप विधान एवं विशेषताएँ हैं और इन भेदों की भी युग के अनुरूप भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की गई हैं। डा० दशरथ ओझा समूचे संस्कृत नाट्यशास्त्र के सर्वेक्षण के पश्चात् इसी परिभाषा भेद को संक्षिप्त करते हुए लिखते हैं "विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने युग के अनुरूप रूपक की परिभाषाएँ दी हैं अतः कई दृष्टियों से रूपक के स्वरूप को देखा जा सकता है।"[1] संस्कृत के सभी नाट्य रूपों में ये भेद वर्ण्य विषय पात्र रस आदि को लेकर होने के कारण बाह्य ही अधिक हैं कोई तात्त्विक विरोध नहीं क्योंकि सभी नाट्यरूपों का उद्देश्य रस-सृष्टि ही है। परन्तु पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में यह अन्तर तात्त्विक भी है। नाटक के उद्देश्य में मतैक्य न होने के कारण उसकी परिभाषा तथा स्वरूप में भी स्वाभाविक रूप से भिन्नता पाई जाती है। वहाँ नाटकों के कई वर्ग बन गए हैं। इन्हीं वर्गों का विवेचन करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध आलोचक आर्थर जौन नायन लिखते हैं 'आचार्यों द्वारा नाटक की परिभाषा निश्चिततः एक दर्जन विभिन्न रीतियों से की गई है, किसी का कथन है, कि नाटक कार्य का अनुकरण करने वाले चरित्र पर आधृत होना चाहिए, दूसरे ने इसे मानव चरित्र का नहीं अपितु कार्य एवं जीवन का अनुकरण मानते हुए चरित्र चित्रण को कार्य की अपेक्षा गौण सिद्ध किया। तीसरे ने इसे मानव संकल्प और बाधाओं के मध्य संघर्ष कहा। इत्यादि इत्यादि।'[2] इस प्रकार नाटक के उद्देश्य को

1. नाट्य समीक्षा डा० दशरथ ओझा पृ० सं० ४
2. Drama has been strictly defined by the rhetoricians in a dozen different

लेकर पाश्चात्य नाट्य साहित्य में नाटकों के कई रूप बन गए हैं। उद्देश्य में अन्तर होने पर रूप विधान में भेद होना स्वाभाविक है। इस रूप-विधान की विभिन्नता के ऐतिहासिक कारणों का विश्लेषण करते हुए रोनल्ड पीकाक लिखते हैं, "समाज अथवा व्यक्तियों की परिस्थितियों के भेद के कारण नाटक के प्रत्येक वर्ग ने अपना मौलिक रूप-विधान जुटाया है जिससे सिद्ध होता है कि नाटक अनेक व्यक्तियों के लिए अनेक विषय रहा है।"

इतने अधिक वैभिन्य के विश्लेषण में न उलझते हुए कुछ सामान्य प्रारम्भिक विशेषताओं के आधार पर नाटक के स्वरूप को इस प्रकार देखा जा सकता है

'नाटक में कार्य एवं गति से युक्त एक कथा हो सरसता एवं मानवीय आधार पर पात्रों का चरित्रांकन हो। अभिनय के लिए उपयुक्त संवाद एवं दृश्य-विधान हो और अन्त में इन सबके संयोजन का कुछ उद्देश्य हो अर्थ हो या कि प्रेक्षक के हृदय एवं मस्तिष्क को स्पर्श करे।"

इन्हीं स्थूल विशेषताओं के आधार पर नाटक के स्वरूप को समझा जा सकता है और नाटक की कला के परीक्षण एवं विश्लेषण को अधिक वैज्ञानिक एवं सुबोध्य बनाने के लिए नाटक के कुछ तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर नाटक की समीक्षा की जाती है। परन्तु इन तत्त्वों के निर्धारण के बारे में भी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। फिर भी हिन्दी नाटक को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी नाटक पर प्रभाव डालने वाले नाट्यशास्त्रों (संस्कृत एवं पाश्चात्य) के आधार पर इन तत्त्वों का निर्धारण किया जा सकता है।

हिन्दी के अधिकांश विद्वानों के अनुसार संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन तत्त्व हैं—वस्तु नेता और रस। परन्तु पंडित सीताराम चतुर्वेदी इन तत्त्वों पर आक्षेप करते हुए अभिनव नाट्यशास्त्र में लिखते हैं —

"बहुत से आचार्यों ने दशरूपक के 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको' [वस्तु, नेता अर्थात् नायक और रस के कारण उनके (रूपकों-उपरूपकों के) भेद किए गए

---

ways. Drama says one 'must be based on character and the action proceed from character' Drama' stipulates another 'is not an imitation of men but of an action and of life, character is subsidiary to action. 'Drama promulgates still another is the struggle of will *against obstacles and so on and so on.*

—The European Theories of Drama Page 03

[2] Each type have an original way of associating dramatic form with a view of the life held by the society or an individual and from them we learn forcibly that Drama has been many things to many people —The Art of Drama Ronald Peacock, Page 158

है] इस आधार पर वस्तु, नेता और रस को भूल से नाटक का तत्त्व मान लिया है। वास्तव में रूपकों और उपरूपकों का भेद इसी आधार पर है कि उनमें या तो किसी प्रकार की विशेष वस्तु है या कोई विशेष प्रकार का नायक है या किसी विशेष प्रकार का रस है। जैसे प्रकरण का नायक 'धीरप्रशान्त' होता है। नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। और अंक में करुण रस की प्रधानता होती है। अतः वस्तु नेता और रस को रूपकों का तत्त्व मानने की भूल नहीं करनी चाहिये।"[1]

वह सम्यक तत्त्व निर्धारण के लिए तत्त्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "किसी वस्तु को तत्त्व कहने का यह अभिप्राय है कि यदि उसमें से एक तत्त्व भी निकल जाय तो वस्तु निरर्थक हो जाए। तत्त्वों से किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध होता है।"[2] उन्होंने तत्त्व की इस परिभाषा के आधार पर नाटक के तीन तत्त्व माने हैं—कथा संवाद और रंग निर्देश। सामान्य प्रचलित देश-काल चरित्र चित्रण और शैली को तत्त्वों के अन्तर्गत न रखने के कारण का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं—"अर्थात् कथा के दो कारण होते हैं घटना और पात्र। कथा कार्य है, घटना और पात्र कारण हैं इसलिए कथा ही मूल तत्त्व है। देश काल कोई तत्त्व ही नहीं है। यह तो कथावस्तु और पात्र दोनों में निहित है। कोई भी घटना या पात्र किसी विशेष देश या काल से ही सम्बद्ध होंगे कथा स्वयं उसका विवरण देगी। देश और काल वस्तु के ही अंग हैं वे कोई अलग तत्त्व नहीं। शैली भी कोई तत्त्व नहीं है यह तो संवाद का साधन है। शैली और संवाद को अलग तत्त्व मानना ही बड़ा भारी भ्रम है और उद्देश्य तो साध्य है वह तत्त्व कैसे हो सकता है।"[3]

परन्तु यदि तत्त्व से यही अभिप्राय लिया जाय और अस्तित्व-बोध कराने वाले कम से कम तत्त्वों को ही तत्त्व माना जाय तो पण्डितजी के इन तत्त्वों को भी और सीमित किया जा सकता है। संवाद और रंग-निर्देश के स्थान पर अभिनय को तत्त्व मान लेने से नाटक का अस्तित्व स्थिर रहेगा क्योंकि अभिनय के वाचिक भेद में संवाद तथा सात्त्विक और आंगिक में रंग-निर्देश स्वयं आ जायेंगे। इस प्रकार दो तत्त्व हुए कथा और अभिनय। जिन तर्कों के आधार पर शेष तत्त्वों को काटा गया है उन्हीं तर्कों को यदि थोड़ा और खींचा जाय तो एक ही तत्त्व रह जाएगा और वह साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की परिभाषा से भिन्न नहीं

१ अभिनव नाट्यशास्त्र सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ८८
२ वही पृ० ७५
३ वही पृ० ७८

होगा। अर्थात् 'तदूपारोपितु रूपकम्' अर्थात् रंगमंच पर किसी पात्र का राम या सीता का आरोप करके जो अभिनय दिखाया जाता है उस समस्त प्रक्रिया को रूपक की संज्ञा दी जाती है।"[1]

इस प्रकार रूपक मे एक ही तत्त्व रह जाएगा 'आरोपित अभिनय की प्रक्रिया'। इसमे वस्तु तत्त्व स्वयं ही समाहित हो जाता है क्योंकि वह आरोप पात्र की किसी घटना आदि का ही होगा।

वास्तव में तत्त्व की यह परिभाषा ही भ्रामक है। तत्त्व अस्तित्व का बोध कराने के लिए नहीं प्रत्युत् कलात्मक सौष्ठव को प्रकट करने के लिए कवि के लिए अवसर है। नाटक किसी भी कथा या सवाद के माध्यम से पात्रों का अभिनय मात्र नहीं है यह सब मिलकर भी बिना सौष्ठव के नाटक नहीं बन सकते। अत यह अस्तित्व-बोधक ही कैसे सब मलक मिल जाने पर भी नाटक का अस्तित्व नहीं बनता। अत यह मानना पड़ेगा कि तत्त्व तो नाटककार को सौष्ठव प्रकट करने के लिए निर्दिष्ट दिशाएँ हैं जिनमें वह अपनी प्रतिभा के बल से नाटक में कलात्मकता ला सकता है। कथावस्तु की मौलिकता और विन्यास चरित्र चित्रण में सूक्ष्मता भाषा में स्वाभाविकता एवं गरिमा ही नाटक में काव्यत्व के मापदण्ड हैं। जितनी अधिक कुशलता से इन तत्त्वों का गठन किया जाएगा एवं इनमें सौष्ठव होगा उतना ही नाटक अधिक सफल कहा जाएगा। इस दृष्टि से ही नाटक के तत्त्वों का निर्धारण किया जाना चाहिए।

दशरूपक के 'वस्तु नेता रसस्तेषा भेदको' को यदि रूपक के भेदों के आधार पर ही कहा मान लिया जाए तो मानना पड़ेगा कि नाटक के तत्त्वों का इस प्रकार का प्रत्यक्ष विश्लेषण संस्कृत नाट्यशास्त्र में नहीं हुआ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने इस दिशा में विचार ही नहीं किया। नाटक के भिन्न-भिन्न अंगों की विवेचना उन्होंने विस्तार से की है उन्हीं में कलात्मकता दिखलाई जाए, ऐसा उनका ध्येय था इसलिए उन्हें ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का तत्त्व मानना युक्तियुक्त होगा।

संस्कृत नाट्यशास्त्र मे कथावस्तु का विचार अति विस्तार से किया गया है। अत कथावस्तु नाटक का प्रथम तत्त्व हुआ। चरित्र-चित्रण के विवेचन में नाटक मे सम्भावित प्रत्येक पात्र यहाँ तक कि दास-दासियों के भी कर्म और स्वभाव का विस्तार से उल्लेख किया गया है ताकि चरित्र-चित्रण मे अस्वाभाविकता न आए। नायक-नायिका भेद के अति विस्तार के मूल में चरित्र चित्रण में प्रभावोत्पादकता लाना ही तो है। अत चरित्र-चित्रण को तत्त्व न मानना कितनी

१ अद्‌र मदीक्षा दा दशरूप मोक्ष पृ सं ४

बड़ी भूल होगी। अतः दूसरा तत्त्व हुआ चरित्र-चित्रण।

नाट्य-वृत्तियों का विवेचन भी आचार्यों ने मनोयोग से किया है। इन वृत्तियों को वर्तमान आलोचना शास्त्र की भाषा में 'भाषा-शैली' नाम से अभिहित किया जा सकता है। अतः तीसरा तत्त्व हुआ 'भाषा-शैली'।

अभिनय का भी नाट्यशास्त्र में विवेचन है। भरत ने इसका विस्तार से विवेचन किया है परन्तु यह सारा विषय रंगनिर्देशक का है। भरत मुनि स्वयं नाटकों का संचालन एवं निर्देशन भी करते थे इसलिए उनका इस तत्त्व को विस्तार देना स्वाभाविक है। अभिनय की सम्पूर्ण विवेचना पढ़ने के पश्चात् उसे कवि (नाटककार) के उपयोग का नहीं कहा जा सकता। कायिक सात्विक और आहार्य तो स्वतः स्पष्ट है कि नाटककार से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते वाचिक अभिनय में भी स्वर व्याकरण और छन्द की दृष्टि से अनुकरण की विधि ही बताई गई है। 'भरत मुनि ने वाणी के अभिनय में स्वरशास्त्र व्याकरण तथा छन्दशास्त्र का परिचय कराया है जिससे कि अभिनेताओं को स्वरादि का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय। बोलने और पाठ करने की विधियों का भी उल्लेख हुआ है और रसों के अनुकूल छन्दों और रागों का भी निर्देश किया गया है।"[1] अतः अभिनय का सम्बन्ध रंग निर्देशक से मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। कवि का काम तो पात्रों की क्रियाओं और संवादों में स्वाभाविकता मात्र देना मात्र है ताकि वे अभिनेय बन सकें। इसमें संवादों का छोटा होना उनकी अभिनेयता रसानुकूलता आदि भाषा-शैली के अन्तर्गत आएँगे और अर्थ-योजना दृश्य-विधान आदि कथा-विन्यास के विषय हैं। अतः अभिनय को संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार तत्त्व मानना युक्तियुक्त नहीं।

देश-काल के चित्रण को भी अलग से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया परन्तु नाटक के कथानक में सजीवता और पात्रों में स्वाभाविकता की ओर जितना ध्यान दिया गया है उससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस तत्त्व की अवहेलना नहीं की। अतः इस अप्रत्यक्ष विवेचन के कारण इसे संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का तत्त्व नहीं माना जा सकता।

उद्देश्य के विवेचन के लिए संस्कृत नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन और रस मीमांसा का विश्लेषण करना पड़ेगा। उद्देश्य के विषय में पाश्चात्य आचार्यों में कितना ही भेद रहा हो, भारतीय आचार्य अपनी सांस्कृतिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के कारण सदा एकमत रहे हैं। लगभग सभी आचार्यों

---

१ गुलाब राय नाट्य के रूप पृ १०

ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य के प्रयोजनों के बारे में विचार किया है। उन के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् इन प्रयोजनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।[1] कुछ काव्य प्रयोजन जैसे आनन्द प्रीति, सद्यः परनिर्वृत चमत्कार आदि व्यक्तिगत उदात्त सिद्धियाँ हैं और रस के परिपाक से सम्पन्न होती हैं 'शेष लोकोपदेशजननं व्यवहारविद् शिवेतरक्षतये' धर्म हित *आदि सामाजिक उदात्त सिद्धियाँ हैं जो लोकमंगल के अन्तर्गत आती हैं* और काव्य में स्वतः व्यञ्जित होती हैं। वैसे तो आनन्द को ही मूलभूत प्रयोजन माना गया है[2] परन्तु फिर भी शेष व्यञ्जित होने वाले प्रयोजनों की अवहेलना नहीं की गई। अतः रस-सृष्टि को ही मुख्य उद्देश्य मानते हुए स्थूल सामाजिक लोकमंगल को भी गौण उद्देश्य मानने में कोई बाधा नहीं।

रस के विषय में एक बात और भी विचारणीय है रस भी अपने शुद्ध रूप में लोकमंगल की भावना से युक्त है। प्रसादजी रस के इसी लोकमंगल रूप की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से *अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार* पर। रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं। इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस संशोधन के द्वारा जिस अभिन्नता की वह सृष्टि करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता विशिष्टता हट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर *रस की सृष्टि करते हैं और रसवाद की यही पूर्णता है।*''[3] इसलिए यदि इस

---

१ भरत— धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (नाट्यशास्त्र)
भामह—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ (काव्यालंकार)
मम्मट—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (काव्यप्रकाश)
कुन्तक—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ (वक्रोक्तिजीवितम्)

२ सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। (काव्यप्रकाश १।२ की वृत्ति)

३ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध १ पृ० ५६

आधार पर रस को भी लोकमंगल की उदात्त सिद्धि मान लिया जाय तो अनुचित न होगा।

अतः निष्कर्ष निकला कि काव्य में लोकमंगल के लिए दो तत्त्वों का नियोजन होता है एक भाव तत्त्व जो कि प्रमुख है एवं जिसके परिपुष्ट होने पर रस परिपाक होता है जो अपने आनन्द के आस्वादन में ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है दूसरा विचार तत्त्व जो स्पष्टतः लोकमंगल व सामाजिक सांस्कृतिक आदि बाह्य रूपों को पुष्ट करता है, परन्तु काव्य में प्रच्छन्न एवं निगूढ़ रहता है और व्यञ्जना के माध्यम से ध्वनित होता है। दोनों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक का सम्बन्ध व्यक्ति से है दूसरे का समाज से। वैसे तो अपने उदात्त स्वरूप में व्यक्ति और समाज का हित भिन्न नहीं कहा जा सकता परन्तु विवेचन के लिए एक विभाजक रेखा (भले ही वह स्थूल हो) माननी ही पड़ती है। अतः संस्कृत नाट्यशास्त्र के उद्देश्य की चर्चा में व्यक्तिगत आनन्द और लोकमंगल की भावना दोनों को ही सम्मुख रखना युक्तियुक्त होगा। एक का आधार भाव है तो दूसरे का निगूढ़ विचार। अतः उद्देश्य के अन्तर्गत दो तत्त्व हुए भाव तत्त्व और विचार तत्त्व। इस प्रकार संस्कृत नाट्यशास्त्र में कुल चार तत्त्व मानना समीचीन है—वस्तु चरित्र-चित्रण भाषा-शैली तथा उद्देश्य (जिसमें भाव तत्त्व तथा विचार तत्त्व का समावेश है)।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में अरस्तू ने त्रासदी के छह अंग माने हैं—कथानक चरित्र-चित्रण पद रचना विचार तत्त्व दृश्य विधान और गीत।[1] इसमें विचार तत्त्व अपने व्यापक अर्थ में भाव तत्त्व को भी समाहित किए हुए है। 'विचार तत्त्व का अर्थ व्यापक है इसमें बुद्धि तत्त्व का प्राधान्य होते हुए भी भाव तत्त्व का अन्तर्भाव है।'[1] पद रचना और गीत तो भाषा शैली के अन्तर्गत आते हैं। दृश्य विधान को स्वयं अरस्तू ही अधिक महत्त्व नहीं देते। उनका कथन है 'नाटक मूलतः काव्य है रंग-कौशल से उसके आकर्षण में वृद्धि अवश्य होती है किन्तु मूल प्रभाव के लिए वह अनिवार्य नहीं।'[2]

अर्वाचीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में विद्वानों ने नाटक के छह तत्त्व माने हैं—वस्तु, चरित्र-चित्रण कथोपकथन शैली देश-काल और उद्देश्य। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व अर्थात् भाव प्रतिपाद्य का भी अधिक महत्त्व प्राप्त होने के कारण किसी-किसी ने इसको भी अलग से तत्त्व मान लिया है।

१ भूमिका अरस्तू का काव्यशास्त्र डा० नगेन्द्र,
२ वही, पृ० सं ११०
३ वही, पृ सं० ११६

ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य के प्रयोजनों के बारे में विचार किया है। उन के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् इन प्रयोजनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।[1] कुछ काव्य प्रयोजन जैसे आनन्द, प्रीति, सद्यः परनिर्वृति, अन्तश्चमत्कार आदि व्यक्तिगत उदात्त सिद्धियाँ हैं और रस के परिपाक से सम्पन्न होती हैं। शेष लोकोपदेशजनन, व्यवहारविद्, शिवेतरक्षतये, धर्म, हित आदि सामाजिक उदात्त सिद्धियाँ हैं जो लोकमंगल के अन्तर्गत आती हैं और काव्य में स्वतः व्यञ्जित होती हैं। वैसे तो आनन्द को ही मूलभूत प्रयोजन माना गया है[2] परन्तु फिर भी शेष व्यञ्जित होने वाले प्रयोजनों की अवहेलना नहीं की गई। अतः रस-सृष्टि को ही मुख्य उद्देश्य मानते हुए स्थूल सामाजिक लोकमंगल को भी गौण उद्देश्य मानने में कोई बाधा नहीं।

रस के विषय में एक बात और भी विचारणीय है। रस भी अपने शुद्ध रूप में लोकमंगल की भावना से युक्त है। प्रसादजी रस के इसी लोकमंगल रूप की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं। इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की वह सृष्टि करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता विच्छिन्नता हट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं और रसवाद की यही पूर्णता है।'[3] इसलिए यदि इस

---

१ भरत— धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (नाट्यशास्त्र)
भामह—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ (काव्यालंकार)
मम्मट—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (काव्यप्रकाश)
कुन्तक—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ (वक्रोक्तिजीवितम्)

२ सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। (काव्यप्रकाश १।२ की वृत्ति)

३ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० सं० ८६

आधार पर रस को भी लोकमंगल की उदात्त सिद्धि मान लिया जाय तो अनुचित न होगा ।

अतः निष्कर्ष निकला कि काव्य में लोकमंगल के लिए दो तत्त्वों का नियोजन होता है : एक भाव तत्त्व जो कि प्रमुख है एवं जिसके परिपुष्ट होने पर रस परिपाक होता है जो अपने आनन्द के आस्वादन में ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है; दूसरा विचार तत्त्व जो स्पष्टतः लोकमंगल के सामाजिक, सांस्कृतिक आदि बाह्य रूपों को पुष्ट करता है परन्तु काव्य में प्रच्छन्न एवं निगूढ़ रहता है और व्यञ्जना के माध्यम से ध्वनित होता है। दोनों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक का सम्बन्ध व्यक्ति से है दूसरे का समाज से। यों तो अपने उदात्त स्वरूप में व्यक्ति और समाज का हित भिन्न नहीं कहा जा सकता परन्तु विश्लेषण के लिए एक विभाजक रेखा (भले ही वह स्थूल हो) माननी ही पड़ती है। अतः संस्कृत नाट्यशास्त्र के उद्देश्य की चर्चा में व्यक्तिगत आनन्द और लोकमंगल की भावना दोनों को ही सम्मुख रखना युक्तियुक्त होगा। एक का आधार भाव है तो दूसरे का निगूढ़ विचार। अतः उद्देश्य के अन्तर्गत दो तत्त्व हुए भाव तत्त्व और विचार तत्त्व। इस प्रकार संस्कृत नाट्यशास्त्र में कुल चार तत्त्व मानना समीचीन है—वस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य (जिसमें भाव तत्त्व तथा विचार तत्त्व का समावेश है)।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में अरस्तू ने त्रासदी के छह अंग माने हैं—कथानक, चरित्र चित्रण, पद रचना, विचार तत्त्व, दृश्य विधान और गीत।[1] इसमें विचार तत्त्व अपने व्यापक अर्थ में भाव तत्त्व को भी समाहित किए हुए है। "विचार तत्त्व का अर्थ व्यापक है इसमें बुद्धि तत्त्व का प्राधान्य होते हुए भी भाव तत्त्व का अन्तर्भाव है।"[2] पद रचना और गीत तो भाषा शैली के अन्तर्गत आते हैं। दृश्य विधान को स्वयं अरस्तू ही अधिक महत्त्व नहीं देते। उनका कथन है : 'नाटक मूलतः काव्य है, रंग-कौशल से उसके आकर्षण में वृद्धि अवश्य होती है किन्तु मूल प्रभाव के लिए वह अनिवार्य नहीं।'[3]

अर्वाचीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में विद्वानों ने नाटक के छह तत्त्व माने हैं—वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली, देश-काल और उद्देश्य। इनके अतिरिक्त द्वन्द्व अर्थात् घात-प्रतिघात का भी अधिक महत्त्व प्राप्त होने के कारण किसी-किसी ने इसको भी अलग से तत्त्व मान लिया है।

---

१ भूमिका : अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र,
२ वही, पृ० सं० ११७
३ वही, पृ० सं० ११५

हिन्दी नाटक संस्कृत और पाश्चात्य दोनों नाट्यशास्त्रों से प्रभावित है। संस्कृत नाट्य परम्परा इसकी पतृक सम्पत्ति है और पाश्चात्य नाटकों की इस पर गहरी छाप है। अत दोनों के प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दी नाटक का विकास हुआ। संस्कृत नाटक के उद्देश्य तत्त्व के दो प्रमुख रूपों में से हिन्दी नाटककार ने भाव तत्त्व को उद्देश्य के स्थान पर एक साधन मात्र लिया है। केवल विचार तत्त्व ही उसका अभिव्यंजन रह गया है। संस्कृत नाटक का भाव तत्त्व जो अपनी रस सिक्त अवस्था में ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता था अब हिन्दी नाटककार द्वारा विचार को गहरा करने वाले भाव के रूप में ही सीमित कर दिया गया। इस प्रकार उद्देश्य में विचार की स्थिति प्रथम और भाव की द्वितीय हो गई। अत हिन्दी नाटक के तत्त्वों का विवेचन करते हुए उद्देश्य के अन्तर्गत भाव और विचार को अलग अलग मानना अधिक समीचीन होगा। फलत हिन्दी नाटक के पाँच तत्त्व हुए—कथानक चरित्र-चित्रण भाषा शैली भाव तत्त्व तथा उद्देश्य। उद्देश्य के अन्तर्गत विचार तत्त्व आएगा जो कि प्रच्छन्न होने पर ही काव्य की वस्तु बनता है।

शिल्प-संगठन का आधार

नाटक का नियुक्त उद्देश्य सभी तत्त्वों में संश्लिष्ट रूप में व्यक्त होता है। परन्तु कभी-कभी नाटककार अपने अभिव्यंजन को स्पष्ट करने के लिए किसी एक तत्त्व को *प्रमुखतः आधार बनाता है और शेष तत्त्वों को भी उसी के अनुकूल स्पष्ट* करता है जिसके कारण नाटकों के शिल्प-संगठन में भी अन्तर हो जाता है। भिन्न भिन्न तत्त्वों को प्रमुखता देने के कारण नाटकों के शिल्प-संगठन के आधार पर कई वर्ग बन गए हैं। इन विभिन्न शिल्प-संगठनों में प्रत्येक तत्त्व के स्वरूप में भी स्वाभाविक अन्तर आ जाता है जैसे कथानक एक तत्त्व है परन्तु रससृष्टि के उद्देश्य में इसका स्वरूप भिन्न होता है चरित्र-चित्रण को प्रमुखता देते समय इसका स्वरूप भिन्न विचार प्रेषण में भिन्न और समस्या विश्लेषण में सर्वथा भिन्न। अत तत्त्वों के विवेचन से पूर्व यह जान लेना आवश्यक होता है कि उस नाटक के तत्त्व किस आधार भूमि पर खड़े हैं? नाटककार का शिल्प-संगठन में क्या दृष्टिकोण है? उसने अपने अभिव्यंजन को व्यक्त करने के लिए किस तत्त्व को प्रधानता दी है? आदि। इसके अभाव में नाटक का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। एक शिल्प-संगठन में जो गुण है वही दूसरे में दोष हो जाता है। जैसे कथानक में सीमित संघर्ष रस प्रधान नाटक का गुण है परन्तु घटना प्रधान नाटक में यह नाटक के शैथिल्य का परिचायक है। अतः तत्त्वों के विवेचन से

पूर्व विभिन्न आधार भूमियों पर आधृत नाट्य-शिल्पों का विवेचन अधिक समीचीन होगा।

रस-प्रधान शिल्प-संगठन

संस्कृत नाटकों में तत्त्वों के संगठन का आधार रस था। पाठक या प्रेक्षक के हृदय को रसविभोर कर उसकी वृत्तियों का उदात्तीकरण ही नाटककार का प्रमुख उद्देश्य था। साधारणीकरण द्वारा नाटक में अन्तर्हित प्रच्छन्न विचार उसके भाव-जगत् की वस्तु बन जाएँ इस उद्देश्य से ही नाटककार उन्हें रससिक्त कर अभिव्यक्त करता था। अतः शिल्प का विचार करते हुए रस परिपाक के अनुकूल ही सारी सामग्री जुटाई जाती थी। इसी कारण से संस्कृत नाटकों में कथात्मक विन्यास में तीव्र संघर्ष का अभाव है, चरित्र चित्रण में मुख्यतः सम एवं आदर्श चरित्रों का चयन किया गया है, संवाद में भाषा के लिए रस के अनुकूल वृत्ति के लिए आग्रह है, दृश्य एवं सूच्य कथांशों के विभाजन में भी प्रमुख आधार यही है कि भावात्मक एवं मार्मिक स्थलों को दृश्य रूप में रखा जाए आदि।

हिन्दी नाटक ने यद्यपि पूर्णतः रस के आधार पर शिल्प-संगठन नहीं किया परन्तु चिन्तन-पक्ष में आज भी रस का प्राधान्य ही आदर्श है। समाज में व्याप्त बौद्धिकता एवं सामयिक समस्याओं के प्रभाव के कारण चरित्राकन करते हुए अथवा घटनाओं का चयन करते हुए विचारों का सहज मिश्रण हो जाना स्वाभाविक ही है जिसके कारण हिन्दी नाटककार द्वारा अभिव्यक्त भाव रस की स्थिति तक नहीं पहुँचता। तत्त्वों की अलग-अलग विशेषताएँ बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया जाएगा कि रस संगठन के अन्तर्गत अन्य तत्त्वों का स्वरूप क्या होता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी नाटक का यह भाव प्रधान स्वरूप यूनानी त्रोकान्तिकाओं के भाव प्रधान शिल्प-संगठन से भिन्न है। यूनानी त्रोकान्तिकाओं का प्रमुख आधार करुण भाव का उद्रेक था। करुण तथा त्रास के उद्रेक द्वारा ही मनोविकारों का विरेचन उनका सिद्धान्त था। हिन्दी नाटक संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा के कारण यूनानी त्रोकान्तिकाओं के प्रभाव से विमुक्त रहा।

चरित्र प्रधान शिल्प-संगठन

जब नाटककार अपने अभिप्रेत को अभिव्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से चरित्र के माध्यम को अपनाता है और शेष तत्त्वों का संगठन भी उसी के अनुकूल करता है तो वह नाटक शिल्प की दृष्टि से चरित्र-प्रधान नाटक कहलाएगा। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में चरित्र-चित्रण को शिल्प-संगठन का आधार मानने वाले

नाटककार इतनी सूक्ष्मता से चरित्र-सृष्टि करते हैं कि उसमें मार्मिकता एवं सौन्दर्य स्वयमेव अन्तर्भुक्त हो जाता है। मानव स्वभाव की अन्तःप्रवृत्तियों और स्वभाव का निरूपण ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है विशेष परिस्थितियों में मानव स्वभाव की गहरी छानबीन के कारण उनके साहित्य में स्थायित्व आ जाता है। इस पक्ष से प्रभावित होकर हिन्दी नाटककार शील-वैचित्र्यपरक चरित्र-सृष्टि की ओर आकृष्ट हुआ। परन्तु जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है हिन्दी नाटक के चिन्तन-पक्ष में आज भी साध्य रूप से रस का ही प्राधान्य है। अतः यह चरित्र सृष्टि भी आचार्यों की आलोचना से मुक्त नहीं। नन्ददुलारे वाजपेयी इसकी तुलना भारतीय रस तत्त्व के साथ करते हुए लिखते हैं— नाटक में चरित्र-चित्रण और स्वभाव निरूपण अन्ततः साधन ही है साध्य नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो काव्य में वस्तु चित्र मात्र है। वह काव्योपयोगी तभी होगा जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भाव-सत्ता या कथा का अंग बनकर आवे काव्य में अन्तर्भुक्त हो जाए। मानव प्रकृति की यथार्थवादी खोज अन्ततः विज्ञान का विषय है पश्चिमी विचारक भले ही इसे काव्य के लिए सब कुछ मान लें परन्तु यह सारी मार्मिकता तथा वैज्ञानिकता कवि कल्पना का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना ही होगा।[1]

प्रसादजी ने भी व्यक्ति वैचित्र्य के अन्तर्गत किए गए चरित्र अंकन को रस में व्याघात पहुँचाने के कारण साधन ही माना है। उनका कथन है—"यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देने वाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक सम्बद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा सम्बन्ध तो नहीं दिखाई देता क्योंकि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है फिर उसे साधारणतः अभेद वाली कल्पना रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो? वर्तमान युग बुद्धिवादी है आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। भारतीय आचार्यों को निराशा न थी करुण रस था उसमें दया-सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार आनन्द लेने को मुख्य माना।"[2] और इस भारतीय रसवाद का भारतीय दर्शन से सम्बन्ध स्पष्ट करते

१ आधुनिक साहित्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृष्ठ सं २११

२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध जयशंकर प्रसाद पृष्ठ संख्या ८२

हुए वे निष्कर्ष निकालते हैं कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और चरित्र-वैचित्र्यों को लेकर ही अपनी सृष्टि करती रही है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र-वैचित्र्यों को साधन मानता रहा है साध्य नहीं।"[1]

व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत किए गए चरित्रांकन की सामाजिक उपयोगिता भी है। यह मानव समाज की गहराइयों को प्रकट कर समाज में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करती है होरी के चरित्रांकन द्वारा किसान के प्रति समाज की सहानुभूति उत्पन्न करना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। परन्तु यह दया और सहानुभूति भी भारतीय दर्शन के अनुकूल न होने के कारण ग्राह्य नहीं ऐसा स्पष्ट मत प्रसादजी का रहा—"सामाजिक इतिहास में साहित्य-सृष्टि के द्वारा मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र द्वारा मैंकास पाया, तो साहित्य से संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा है और है भी। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य है—मूल में संशोधनात्मक ही है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर समाज का संशोधन है और कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी यह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय दर्शन में मिलन प्रमद-मूल की सृष्टि मुख्य है।"[2]

इस सारे विवेचन से स्वतः स्पष्ट होता है कि हिन्दी नाटक परम्परा में रस की स्थिति का उच्चतम स्थान होने के कारण चरित्र-चित्रण की स्थिति अपेक्षाकृत गौण ही रही। इसमें चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव अवश्य पड़े।

कथानक अथवा घटना-प्रधान शिल्प-संगठन

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कथानक को आधार तत्त्व मानने वाला एक प्रमुख वर्ग है। सबसे प्रथम अरस्तू ने इस महत्त्व प्रदान करते हुए त्रासदी की आत्मा कहा था। उनका कथन है, कथावस्तु त्रासदी की आत्मा है। इसके कारण है त्रासदी व्यक्ति नहीं जीवन की अनुकृति है। जीवन कार्य-व्यापार है। बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती जबकि बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है। चारित्र्य-व्यंजक भाषण विचार और पदावली से अधिक कारुणिक प्रभाव घटनाओं का कलात्मक गुम्फन पैदा करता है। स्थिति-विपर्यय

1 काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० 85
2 वही, पृ० 85

और प्रत्यभिज्ञान भी कथानक के ही अंग हैं।"[1] इसी अर्थ के अन्य परवर्ती विद्वानों ने भी कथानक के महत्त्व का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है। उनका प्रबल तर्क है कि (Action speaks louder than the words) कार्य शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। रोनल्ड पीकाक कथानक के महत्त्व का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"कथानक में दो भाव निहित हैं। यह नाटकीय संयोजन है और साथ ही साथ अर्थ एवं उद्देश्य की ओर संकेत का साधन भी।"[2] इस प्रकार यह नाट्य तत्त्व एवं विचार तत्त्व दोनों का मेलक है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कथानक के चयन पर अत्यधिक बल दिया है। उनके विचार से कथानक वही उपयुक्त होता है जो मानव की मूल वृत्तियों एवं भावों को प्रभावित करे और काल के बन्धन से मुक्त होकर शाश्वत संवेदनाओं से सम्पन्न हो।[3]

हिन्दी नाटककार ने वस्तु को अधिक महत्त्व देने वाले वर्ग से भी प्रभाव ग्रहण किया। वास्तव मे संस्कृत नाट्यशास्त्र में भी वस्तु को कम महत्त्व प्राप्त नहीं परन्तु वह रसाधीन है। अतः हिन्दी में भी वस्तु तत्त्व को रस से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भारतीय नाटक और पाश्चात्य नाटकों के वस्तु तत्त्व की तुलना करते हुए लिखते हैं— 'भारतीय नाटक नाट्य-व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष में उतने न थे। वे नाटक में रमना जानते थे घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।'"[4]

परन्तु हिन्दी नाटक में वस्तु तत्त्व रसाधीन होते हुए भी पाश्चात्य साहित्य के इस वर्ग से किंचित प्रभावित हुआ। अतः हिन्दी नाटक के वस्तु तत्त्व का क्या स्वरूप बना यह नाटक के तत्त्वों की आलोचना में स्पष्ट किया जायगा।

---

१ भूमिका अरस्तू का काव्यशास्त्र नगेन्द्र पृ० सं० ११

२ Plot has two aspects. It is a concept of dramatic construction, and also a device for the pointing of vision or the meaning.
—Ronald Peacock The Art of Drama Page 194

३ For Arnold, then as for Aristotle, the plot is the first thing .... His first task is to select an 'excellent action But what actions, he asks, are the most excellent ? And he replies "those which most powerfully appeal to the great primary human affections; to those elementary feelings which subsist permanently in the race and which are independent of time."
—James : The Making of Literature, Page 266

४ आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० सं० २३१

समस्या-प्रधान शिल्प-संगठन

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में तथाकथित यथार्थवादी नाटककारों ने नाटक के आधार तत्त्व को सर्वथा बदल दिया। वे सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से किंचित अधिक सामयिक समस्याओं की ओर उन्मुख हुए। प्रेक्षक को आनन्दित करना उनके लिए केवल अपनी बात को सुनाने के लिए रोक रखने का साधन था। बर्नार्ड शा का इस बारे में स्पष्ट कथन है कि नाटक वह कुछ भी है जो श्रोता-मण्डली को दो-ढाई घण्टे तक मनोरंजित कर सके।"[१] इससे नाटक का स्वरूप सर्वथा बदल गया। इसमें बौद्धिकता का समावेश हो गया। नाटक का प्रच्छन्न विचार तत्त्व व्यक्त हो गया और आनन्द तत्त्व जो व्यक्त था केवल स्थूल साधन रह गया।

इस बात का हिन्दी नाटक पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और हिन्दी में भी समस्या-नाटकों की एक धारा चल पड़ी। हिन्दी की पूर्ववर्ती नाटक-धारा पर भी इसका प्रभाव पड़ा, जिसमें रस तत्त्व तो अक्षुण्ण रहा परन्तु नाटक में सामयिक तत्त्वों का विश्लेषण भी होने लगा। सामाजिक कथानक को लेकर लिखे जाने वाले नाटकों में वाद-प्रधान नाटकों को छोड़कर, सामयिक उपयोगिता का तत्त्व अधिक प्रमुख हो गया। इसकी पृष्ठभूमि में बुद्धिवादी तर्क थे परन्तु नाटक में वे भाव के आश्रित होकर ही आए। इस प्रकार हिन्दी नाट्यशास्त्र में विचार तत्त्व जो कि संस्कृत नाट्यशास्त्र में प्रच्छन्न एवं निगूढ़ रहता था अधिक व्यक्त एवं प्रस्फुटित हो गया और एक स्वतन्त्र रूप से तत्त्व कहलाने का अधिकारी हो गया। वास्तव में इसी विचार तत्त्व का पर्याय ही पाश्चात्य तत्त्वों में उद्देश्य तत्त्व है। इसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के दूसरे भाग में अलग से किया गया है।

विचार-प्रधान शिल्प-संगठन

पाश्चात्य नाट्य साहित्य में एक वर्ग है जो नाटक में आधारभूत तत्त्व अनुभूत विचारों का प्रेषण मानता है। इस वर्ग के प्रमुख नाटककार टी० एस० इलियट का मत है कि एकीकृत विचारों का सफल प्रेषण ही नाटक की सफलता की कसौटी है। वह इस तत्त्व को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि चरित्रों की असम्बद्धता को भी इस मूल्य पर सह जाने के पक्ष में हैं।[२]

इसके बारे में इलियट साहब तर्क देते हैं कि लेखक उसी कथानक का चयन

१ "A play is anything which interests an audience for two hours and a half on the stage of the theatre."

२ "Mr Eliot means, it may allow characters to behave inconsistently but only with effect to deeper consistency."

—Drama From Ibsen to Eliot Williams

करता है जिसके साथ उसकी अनुभूति का साम्य होता है। अतः वह उस विचार को अभिव्यक्त करने के लिए यथार्थ जीवन में से पात्रों का चयन करता है और उनमें अपनी अनुभूति का आरोप करता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह पात्र लेखक की अनुभूति को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में असमर्थ होता है। इसलिए यदि उसे स्वतन्त्र कर दिया जाय तो नाटक के विचार के एकीकरण में बाधा पहुँचती है। उनका स्पष्ट मत है कि नाटक जीवन नहीं जीवन का एकीकृत विचार है इसलिए पात्रों के चरित्र-चित्रण की सम्यता की उपेक्षा करके भी उसमें समाहित विचार का सफल निर्वाह होना आवश्यक है।

यद्यपि इस वर्ग का प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाटक पर नहीं पड़ा होगा क्योंकि इस वर्ग की प्रविधि की अन्य विशेषताओं का हिन्दी पर अधिक प्रभाव नहीं है तो भी हिन्दी नाटक में युग के प्रभाव के कारण विचार की प्रमुखता स्वाभाविक रूप से मिल गई है। विचार प्रेषण में उसके विविध पक्षों का प्रस्तुत करने के लिए कथानक के विन्यास को तदनुरूप बनाना विशेष दृष्टिकोण वाले चरित्रों की चरित्र-सृष्टि आदि अनेक बातें इस वर्ग के नाटकों में देखी जा सकती हैं। इस वर्ग के आविर्भाव एवं विकास के लिए हिन्दी रंगमंच की अविकसित स्थिति भी एक कारण है। हिन्दी के अधिकांश अच्छे नाटक रंगमंच को दृष्टि में रखकर नहीं लिखे गए। अतः नाटकों के पाठ्य हो जाने पर युग प्रभाव के कारण चिन्तन का यह विकास स्वाभाविक ही है। एकीकृत विचार जिसकी अनुभूति नाटककार ने की है अपनी सफल अभिव्यक्ति के कारण पाठक के हृदय में बैठ जाने के लिए स्वाभाविक रूप से समर्थ होता है। इन नाटकों के शिल्प में अन्विति विचार की लेकर ही होती है। इनमें घटना चरित्र आदि के आधार पर अन्विति ढूँढने से कई दोष दिखाई देते हैं जिसके कारण नाटक का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। लक्ष्मी नारायण मिश्र के अनेक नाटक इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

हिन्दी नाटक के तत्त्व

पाश्चात्य नाटक की भिन्न-भिन्न आधार भूमियों के विश्लेषण के बाद यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी नाटक के आधार तत्त्व रूप में रस को तो अपनाया परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रभावों के कारण एक ऐसा मिश्रण हो गया, जो संस्कृत के आधार तत्त्व रस से भिन्न है जिसमें कथानक इत्यादि रस के अनुकूल नहीं। कथानक में संघर्ष की मात्रा कुछ अधिक है चरित्र-चित्रण में व्यक्ति वैचित्र्य का प्रवेश हो चुका है विचार तत्त्व अधिक प्रच्छन्न नहीं और शैली एवं भाषा में नाट्य वृत्तियों के अनुशासन के साथ-साथ तर्क की प्रधानता हो गई है।

हिन्दी नाटक के विकास में आज की स्थिति यही है। इसके सम्मुख आदर्श नाटक के रूप में यद्यपि संस्कृत नाट्य परम्परा ही है जिसमें विशेषकर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' 'उत्तर रामचरित और 'मृच्छकटिक' आदि प्रमुख हैं और जिस पर हिन्दी नाटक को गर्व भी है, तथापि इसके विकास में शेक्सपीयर इब्सन शा आदि का भी पूरा-पूरा योग है।

हिन्दी नाटक की आधार भूमि संस्कृत एवं पाश्चात्य दोनों नाट्यशास्त्रों से प्रभावित हो एक स्वतंत्र मार्ग का अवलम्बन करती हुई चली। अतः इसके तत्त्वों में तदनुरूप उन नाटकों के तत्त्वों से भिन्नता पाई जाती है।

कथानक

कथानक की प्रथम विशेषता उसकी मौलिकता है। मौलिकता से अभिप्राय कथा के विषय से नहीं प्रत्युत् उसकी अभिव्यक्ति के कौशल से है। कथा का विषय यदि इतिहास लोकवार्ता या जनश्रुति से लिया गया है तो यह लेखक की कला की हीनता का परिचायक नहीं क्योंकि नाटककार का काम तो इतिवृत्त में नाटकीयता लाकर अपनी मौलिकता का प्रदर्शन करना है। महाभारत के शकुन्तला आख्यान को कालिदास की प्रतिभा ने सर्वथा कायाकल्प करके एक नवीन रूप दे दिया यही उसकी मौलिकता है।

कथानक की दूसरी विशेषता उसकी पूर्णता है। नाटककार उतने ही विषय का चयन करता है जो उसके उद्देश्य का सफलता से वहन कर सके। उसकी पूर्णता उसके समुचित गठन में है। इस स्थिति के बारे में प्रसिद्ध विद्वान् श्री बैन जोन्सन लिखते हैं "कथानक केवल एक और सम्पूर्ण कार्य की अनुकृति है। इसके अंग इस प्रकार सन्तुलित अनुपात में परस्पर अनुस्यूत एवं ग्रथित होते हैं कि किसी भी प्रकार से बिना समग्र कृति को क्षति पहुँचाए किसी अंग का विच्छेद एवं परिवर्तन सम्भव नहीं।"[१]

कथानक के विन्यास की ओर संस्कृत एवं पाश्चात्य दोनों नाट्यशास्त्रों ने अधिक ध्यान दिया है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में एक कार्य होता है। उस कार्य की सम्पन्नता तक के क्रिया-व्यापार को सुव्यवस्थित एवं क्रमिक

१ The fable is called the imitation of one entire and perfect action whose parts are so joined and knit together as nothing in the structure can be changed or taken away without impairing or troubling the whole of which there is a proportionable magnitude in the members. (Ben Johnson Timber Discoveries made upon Man and Matter)

—The European Theories of Drama R. H. Clark Page 109.

रूप से दिखाने के लिए उसे पाँच भागों में विभक्त किया गया है—प्रारम्भ, प्रयत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम। इस कार्य-व्यापार की क्रिया के साथ बाह्य संगठन भी सम्बद्ध रहे इसलिए कथानक के बाह्य संगठन के भी पाँच भेद किए गए हैं—(जिन्हें अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं) बीज बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य। इस बाह्य कथानक संगठन और आन्तरिक कार्य-व्यापार का विकास समान गति से एवं सम्बद्ध रूप से हो इसलिए दोनों के समानान्तर मार्गों को परस्पर मिलाने के लिए चमत्कारी स्थलों (सन्धियों) की योजना की गई है। यह सन्धियाँ कार्य की गति और वस्तु के विकास को परस्पर सम्बद्ध रखती हैं। ये सन्धियाँ भी पाँच हैं—मुख प्रतिमुख गर्भ विमर्श और निर्वहण। इस विवरण से स्पष्ट है कि नाटक के विकास की ओर संस्कृत आचार्यों ने विशेष ध्यान दिया। इस वस्तु विन्यास से स्पष्ट है कि कथानक में एक कार्य होता है बाधाएँ आती हैं संघर्ष होता है और उसके पश्चात् कार्य की सिद्धि होती है। परन्तु इसका पाश्चात्य नाटक के संघर्ष के स्वरूप से एक मौलिक भेद है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में संघर्ष कथावस्तु का प्राण माना गया है। इसके बिना कोई कथा नाटक की कथा (नाटकीय कथा) का रूप ही नहीं धारण कर सकती। श्री हडसन इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं 'नाटकीय कथानक के लिए संघर्ष कैसा भी हो एक स्वीकृत अनिवार्य तत्त्व है। संघर्ष के प्रारम्भ से ही वस्तुतः कथानक का प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति के साथ ही कथानक सम्पन्न होता है।'[१] इसके स्वरूप की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि प्रत्येक नाटकीय कथानक का उद्भव किसी संघर्ष से होता है, जो कि दो व्यक्तियों भावों अथवा हितों के टकराने से उत्पन्न होता है।[२]

इस प्रकार कथानक में संघर्ष का तत्त्व दोनों ही नाट्यशास्त्रों में माना गया है परन्तु फिर भी इस संघर्ष के स्वरूप में एक मौलिक भेद है और इसी कारण कथानक के विन्यास में भी भेद हो जाता है। भारतीय नाटक में संघर्ष का तत्त्व केवल प्रयत्न नामक कार्यावस्था से लेकर प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था तक ही

---

१ Some kind of conflict is however the datum and very backbone of a dramatic story With the opening of this conflict the real plot begins with its conclusion the real plot ends.
—Hudson An Introduction to the Study of Lit. P 199

२ Every dramatic story arises out of some conflict—some clash of opposed individuals, or passions or interests.
—Hudson An Introduction to the Study of Lit., Page 199

अनिश्चित स्थिति में बसता है। इसके पश्चात् तो प्राप्ति की आशा के कारण संघर्ष के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। परन्तु पाश्चात्य नाटकों में तो यह संघर्ष कथा के प्रारम्भ के साथ आरम्भ होता है और कथा के अन्त के साथ इसका अन्त होता है और अधिकांश प्रसिद्ध कथानकों में तो यह व्यक्तिगत रूप धारण कर लेता है और भलाई और बुराई के मध्य का यह संघर्ष नायक और प्रतिनायक के माध्यम से होता है।[1] इससे स्थिति अन्त तक अनिश्चित रहती है। इस प्रकार दोनों संघर्षों की तुलना करते हुए एक को विकास कहा जा सकता है तो दूसरे को द्वन्द्व। एक में जीवन का स्वाभाविक संघर्षमय चित्र है तो दूसरे में केवल जीवन का द्वन्द्वमय अंश। और इस द्वन्द्व में कौतूहल और विशेष रूप से तनाव की स्थिति का होना अनिवार्य है। इस बारे में भी रोनल्ड पीकाक का कथन है कि नाटकीयता के वास्तविक लक्षण तनाव और कौतूहल हैं द्वन्द्व नहीं। प्रायः ये द्वन्द्व से ही उत्पन्न होते हैं परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता जैसे क्रिकेट के खेल में द्वन्द्व है परन्तु तनाव और कौतूहल नहीं। वह केवल उसी स्थिति में प्रकट होता है जबकि एक-मात्र गेंद से ही खेल का निर्णय होने वाला हो अतः केवल यही स्थिति नाटकीय होगी। दूसरी ओर एक रेलगाड़ी एक टूटे हुए पुल की ओर पूर्ण गति से आ रही है इसमें कोई द्वन्द्व नहीं परन्तु तनाव की अपेक्षा होने के कारण यह स्थिति नाटकीय हो सकती है।"[2]

इस प्रकार भारतीय नाटक के संघर्ष का आधार विकास और पाश्चात्य नाटक के संघर्ष का आधार तनाव एवं कौतूहल-मूलक द्वन्द्व है।

---

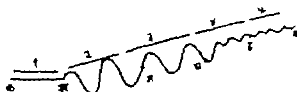
१ In the most elementary and still most popular type of story such conflicts takes a personal form; the collision is between good and evil as embodied respectively in the hero and the villain, of the piece.

—Hudson An Introduction to the Study of Literature Page 159

२ It is commonly held that conflicts makes drama, but surprise and particularly tension are the truer symptom. They both arise from conflict, of course but not always, and conflict is only dramatic when they do. A cricket match involves a conflict, yet with most variable tension, as foreign spectators are apt to observe; it is only a dramatic conflict at particular movements when the pace increases and puts the game in the balance. On the other hand what is more dramatic than a train moving at speed towards a broken viaduct? Yet there is only tense expectation here, no conflict."

—Ronald Peacock The Art of Drama, Page 160.

संघर्ष के इस मूल भेद के कारण दोनों के कथा-विन्यास में भी भेद आ जाना स्वाभाविक है। संस्कृत नाटक में कार्य की गति की विवेचना पीछे की जा चुकी है उसकी पाँचों कार्यावस्थाओं—प्रारम्भ प्रयत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है —



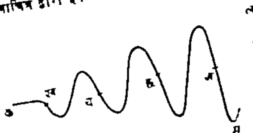
कथा का प्रारम्भ (१) रेखा से माना गया है जिसमें केवल फल के लिए औत्सुक्य मात्र होता है और अर्थप्रकृति की दृष्टि से इसी स्थिति में सभी प्रमुख पात्रों एवं घटनाओं के बीजों का समावेश होता है। फलागम का रेखा बिन्दु कुछ ऊँचा इसलिए माना है क्योंकि कार्य का अर्थ ही है जो कठिन हो प्रयत्न-साध्य हो इसलिए कार्य की सिद्धि को प्रारम्भ के बिन्दु से ऊपर माना है। (२) रेखा में प्रयत्न प्रारम्भ होता है। रेखा की वक्रता संघर्ष की द्योतक है। रेखा ऊपर की ओर बढ़ती है तो सफलता की सूचक है और नीचे की ओर असफलता की। ख ग में संघर्ष की तीव्रता है घ बिन्दु पर पहुँचकर प्राप्त्याशा की स्थिति हो जाती है। संघर्ष की तीव्रता कम हो जाती है और इस प्रकार सफलता की आशा बढ़ती जाती है और अन्त में फलागम की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कार्य की गति का क्रम सर्वथा भिन्न है। उसमें तनाव बढ़ता जाता है और द्वन्द्व में कभी नायक सफल होता दिखाई देता है कभी प्रतिनायक और अन्त में संघर्ष की तीव्रतम स्थिति पर पहुँचकर नायक सफल होता है या प्रतिनायक और नाटक समाप्त हो जाता है। इसी क्रम के विकास की ओर लक्ष्य करते हुए बीन चैपलिन 'नाटक के संक्षिप्त शास्त्रीय विवेचन' (Summary of Poetic of the Drama) में लिखते हैं कि 'कामदी और त्रासदी दोनों के उत्तम कथानक में एक से अधिक प्रमुख कार्य नहीं होते शेष गौण कार्य उसी से सम्बद्ध होते हैं। इसे ही 'कार्यान्विति' (Unity of Action) कहा जाता है। प्रथम अंक में कथा के प्रमुख तत्तु स्पष्ट किए जाते हैं दूसरे में उलझन प्रारम्भ होती है तीसरे में व्याकुलता बढ़ती है चौथे

सैद्धान्तिक विवेचन   नाटक में गाँठ खुलती है।[1] इस प्रकार अन्तिम अंक में गाँठ खुलती है। ' इस

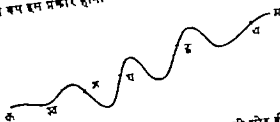
में स्थिति निराशाप्रद हो जाती है और अन्तिम अंक में गाँठ खुलती है। इस

विन्यास को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है



क बिन्दु से कथा आरम्भ होती है यदि म पर आकर कथा की परिसमाप्ति होती है तो यह त्रासदी हुई और यदि ल पर तो कामदी। प्रथम अंक क ख में कथा के सब तन्तु स्पष्ट हो जाएँगे इसलिए क ख रेखा सीधी है। ख घ में उलझन बढ़ जाती है घ छ में व्याकुलता और छ ज में समय अन्तिम सीमा को स्पर्श करता है यदि कथा त्रासदी है तो म पर कथा समाप्त होगी और यदि कामदी है तो ल पर।

हिन्दी नाटक का विन्यास इन दोनों प्रभावों से युक्त है और संस्कृत नाटक की ओर उसका विशेष झुकाव है इसलिए उसे यदि रेखाचित्र द्वारा दिखाना हो तो उसका रूप इस प्रकार होगा



नाटक सुखान्त होने के कारण यह रेखा सदा ऊपर की ओर ही प्रवृत्त होगी।

---

1 In their tragedies and comedies a good plot never had more than one principal action, to which the others are related. This is what is termed 'Unity of action × × × × In the first act the principal points of the story are made clear. In the second complication arises; in the third, the trouble deepens; in the fourth, matters look desperate; in the fifth the knot is loosed.

—The European Theories of Drama   B. H. Clark

क ग में कथा के तन्तु भाव इत्यादि स्पष्ट होंगे। ख ग प्रयत्न है, ग घ प्राप्त्याशा घ ङ नियताप्ति और ङ च फलागम है। स्पष्ट है इसमें कार्य में सफलता तो मिल रही है क्योंकि ख ग से ऊपर है और ङ च से भी, परन्तु संघर्ष की मात्रा रस की स्थिति के लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं और न ही वह द्वन्द्व की स्थिति तक पहुँची है।

नाटक के सीमित आकार के कारण नाटककार को कथानक के चयन में विशेष रूप से कुशलता दिखाने की आवश्यकता होती है। कथा के सभी दृश्य मंच पर दिखाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इतिवृत्त से प्रेक्षक को रस-सिक्त नहीं किया जा सकता और न ही उसमें नाटकीयता होती है। इसलिए नाटककार दृश्य रूप में दिखाने के लिए महत्वपूर्ण एवं प्रभविष्णु दृश्यों को छाँटता है शेष की वह यथा-स्थान सूचना देता रहता है। कथा के सूच्य भाग में वध मृत्यु भोजन विवाह शौचकर्म राज्य विप्लव नगर का घेरा इत्यादि दृश्य प्रमुख रूप से आते हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र में इन्हें दृश्य-कथा में दिखाना वर्जित है। इनके विश्लेषण से स्पष्ट होता है इन वर्जनाओं में से कुछ अश्लील हैं जैसे दन्तक्षत नखक्षत अधर पान आदि, कुछ अरोचक हैं जैसे भोजन शयन अनुलेपन आदि, कुछ त्रास एवं भय उत्पादक हैं जैसे वध मृत्यु, शाप आदि, कुछ रंगमंच की सीमा से बाहर की हैं जैसे नगर का घेरा आदि। इन वर्जनाओं से स्पष्ट है कि वे रस विरोधी हैं या रंगमंच की सीमा में असम्भव। अतः संस्कृत नाट्यशास्त्र में इसे सूच्य भाग में रखा गया है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कथानक में नाटकीयता का गुण प्रधान होता है अतः इस प्रकार की वर्जनाएँ वहाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुई यद्यपि महान नाटककारों की कृतियों में वे स्वतः ही नहीं आ पाई।

हिन्दी नाटक ने इस दृष्टि से पाश्चात्य नाटक का अनुसरण किया और नाटक में चुम्बन आलिंगन आदि के दृश्य भी रंगमंच पर दिखा दिए गए। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ये नाटक व्यावहारिक रूप से मंच पर नहीं खेले गए और इसी कारण उनमें भारतीय संस्कृति और दर्शन के विरोधी तत्त्वों की छानबीन न हो सकी।

सूच्य भाग को प्रेक्षक के सम्मुख लाने के लिए संस्कृत नाट्यशास्त्र में अर्थो-पक्षेपकों की योजना थी। दो अंकों के बीच के लंबे काल में जैसे कोई घटना घटी हो तो उसे प्रवेशक या विष्कम्भक द्वारा दिखाया जाता था। परन्तु पाश्चात्य नाटकों में रस के व्याघात का प्रश्न ही नहीं उठता अतः दृश्य भाग में ही इसे पात्रों के संवादों के माध्यम से ही कहला दिया जाता है। हिन्दी नाटक में इस सूच्य भाग को पात्रों के सम्मुख लाने के लिए दो मार्ग अपनाए हैं। कुछ नाटक

कारों ने नाटक के अंकों को छोटे-छोटे दृश्यों में विभाजित कर कथा के अधिकांश भाग को रंगमंच पर ही दिखा दिया है। निस्सन्देह हिन्दी का नाटककार रस का वातावरण बनाए रखता था परन्तु इतने छोटे दृश्यों से रस की स्थिति को आघात पहुँचता रहा। दूसरे मार्ग के अपनाने वालों ने अंकों को दृश्यों में विभाजित करने के स्थान पर अंकों में ही पात्रों के संवादों द्वारा प्रसंग लाकर मुख्य भाग को कहलवाया है। परन्तु यह स्थिति भी रस के वातावरण के अनुकूल नहीं और इससे कथानक की गति में भी शिथिलता आती है। इस प्रकार संस्कृत और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के मिश्रित प्रभाव के कारण इस दिशा में कोई समन्वित रूप सम्मुख नहीं आया। अतः यह मानना पड़ेगा कि मुख्य और प्रधान कथा के नियोजन का कोई सुव्यवस्थित एवं निश्चित विधान हिन्दी नाटक ने नहीं अपनाया। केवल वही नाटक सफल हैं जिनमें या तो मुख्य भाग ही कम है या दृश्यों को अधिक बड़ा बनाकर उन्हीं में रस का वातावरण बना लिया गया है।

कथानक गठन में सरलता एवं बोधगम्यता का गुण होना भी अति आवश्यक है। अभिनीत होने के लिए तो यह गुण अनिवार्य हो जाते हैं। कथानक के आरम्भ में ही यदि सारी वस्तु-स्थिति स्पष्ट न हो तो प्रेक्षक उसका पूर्णतया आनन्द नहीं उठा सकता। आरम्भ को सरल एवं स्पष्ट कर देने के लिए ही संस्कृत में प्रस्तावना की योजना की जाती थी। उससे प्रेक्षक वस्तु स्थिति को समझ जाने के कारण सोचने की अपेक्षा से मुक्त हो जाता था। पाश्चात्य नाटकों में भी इस आवश्यकता के महत्त्व को समझा गया। हडसन ने नाटक के आरम्भिक अंश में ही पात्रों का एवं घटनाओं की स्थिति का पाठकों को स्पष्ट कर देने का सुझाव नाटककार के सम्मुख रखा है। उनका कथन है कि 'प्रारम्भिक परिचय या विवरण (Exposition) का उद्देश्य ही यह है कि वह प्रेक्षक को ऐसी स्थिति में पहुँचा दे कि वह उस नाटक के सभी अभीष्ट वृत्तान्त से युक्त हो जाए .... और यह आवश्यक है कि प्रेक्षक यथाशीघ्र जान जाए कि ये पात्र कौन हैं और कार्य प्रारम्भ से पूर्व ही यह स्पष्ट हो जाए कि वह किस सम्बन्ध में परस्पर सम्मुख खड़े हैं। प्रारम्भिक दृश्य में अधिकांश व्याख्यात्मक अंश होना चाहिए।'[1] आधु-

---

1 The purpose of the introduction or exposition is to put the spectator in possession of all such information as is necessary for the proper understanding of the play he is about to witness——and as it is essential that he should learn as quickly as possible who and what they are, and what the relations in which they stand to one actor before the action begins, the opening scene or scenes of any drama must be largely occupied with explanatory matter

—Hudson An Introduction to the Study of Lit., Page 202

निक हिन्दी नाटक ने प्रस्तावना की वैज्ञानिक एवं उपयोगी औपचारिकता बढ़ा दी जिसमें वस्तु स्थिति को नाटककार स्वयं ही तटस्थ भाव से नाटक के पूर्व स्पष्ट कर देता था। अप्रचलित ऐतिहासिक कथाओं पर आधृत नाटकों में तो यह और भी आवश्यक है क्योंकि वहाँ तो वस्तु-स्थिति से भी साधारण पाठक अनभिज्ञ होता है।

कथानक की मूल विशेषता यह होनी चाहिए कि उसका आधार जीवनगत घटनाओं से कहीं भिन्न न हो जाए। पाश्चात्य नाटक जिसमें कि कौतूहल संघर्ष द्वन्द्व आदि असाधारण घटनाओं पर बल दिया जाता है वह भी इसका मूल आधार जीवन ही मानते है। यह असाधारण घटनाएं मानव जीवन की सीमा से परे नहीं होनी चाहिए। इस बारे में रोनल्ड पीकाक लिखते हैं कि "यदि आपने नाटक की विधा का चयन किया है तो इसमें अनुवर्ती बन्धनों सहित जीवन का सम्बन्ध स्वीकार करें।"[१]

चरित्र-चित्रण

चरित्र चित्रण के विधान में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण से अन्तर जानने से पूर्व *मानव चरित्र के मूल मन का विश्लेषण कर लेना* अधिक युक्तियुक्त होगा। मन ही मानव के कर्म और वचन दोनों की मूल प्रेरणा है। मन में अनन्त भाव विद्यमान रहते हैं जिनको दो वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—प्रथम दुष्प्रवृत्तियों का वर्ग जिसमें काम क्रोध मोह लोभ अहंकार, ईर्ष्या आदि आते हैं द्वितीय सत्प्रवृत्तियों का वर्ग जिसमे दया क्षमा न्याय अहिंसा करुणा धर्म आदि का समावेश होता है। प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्त होने से पूर्व मानव-मन में यह देव-दानव-युद्ध होता है। इस सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति के सामूहिक युद्ध के अतिरिक्त कभी-कभी सत्प्रवृत्तियों का भी अन्त:संघर्ष हो जाता है जैसे दया और न्याय के मध्य संघर्ष और इसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियों में भी जैसे लोभ और क्रोध में संघर्ष।

इन प्रवृत्तियों की सफलता-असफलता इनकी आधारभूमि—संस्कारों की प्रबलता पर निर्भर करती है। प्रत्येक प्रवृत्ति के आधार संस्कार होते हैं जिनके दो वर्ग हैं—एक जन्मजात संस्कार जो कि व्यक्ति अपनी बुद्धि के स्वतन्त्र उपयोग से पूर्व समाज से एवं माता-पिता से ग्रहण कर लेता है। यह संस्कार अपेक्षाकृत प्रबल

---

१ If you choose drama as your form, you accept its evocation of life, with conquent obligations.

—The Art of Drama Ronald Peacock, Page 194

होते हैं। दूसरे वह जो मनुष्य परिस्थिति के अनुरोध से स्वयं बुद्धि द्वारा ग्रहण करता है अर्थात् परिस्थितिजन्य। इन संस्कारों की प्रबलता के आधार पर इनके भी तीन-तीन वर्ग किए जा सकते हैं—एक प्रबल संस्कार जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी स्थिर रहते हैं, दूसरे दुर्बल संस्कार, जो प्रतिकूल परिस्थिति में मृतप्राय हो जाते हैं और तीसरे मध्य कोटि के संस्कार जो प्रतिकूल परिस्थिति में दब जाते हैं और परिस्थिति के अनुकूल होने पर पुनः जाग्रत हो जाते हैं। परिस्थिति-जन्य संस्कार पहले दुर्बल होते हैं परन्तु अविरत संस्कारित होने पर वे प्रबल बन जाते हैं। इस सारी संस्कार सृष्टि को आधार बनाकर जब नाटककार अपने पात्र का निर्माण करता है तो उसमें स्वाभाविकता सहज ही आ जाती है। इसीलिए प्रायः सफल एवं मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण उसे ही कहा जाता है जिसमें नाटक-कार पात्र का व्यक्तित्व निर्माण करने के पश्चात् उसे स्वतन्त्र कर दे उसमें बीच बीच में हस्तक्षेप करके उसे अपने मताग्रह की ओर लाना चरित्रों के मानवीय व्यक्तित्व को संदिग्ध कर देता है।

कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व मानव के हृदय में संस्कार और परिस्थिति के मध्य द्वन्द्व होता है। इस द्वन्द्व के स्वरूप को दिखलाने के पश्चात् ही उस कर्म में प्रवृत्त दिखाने से एकदम विरोधी कर्म भी स्वाभाविक दिखाई देने लगते हैं और यदि कर्म की गति संस्कार के अनुकूल ही है तो भी अन्तर्द्वन्द्व दिखाने से मानव के व्यक्तित्व में सजीवता आती है। अतः अन्तर्द्वन्द्व दिखाना नाटकों की स्थितियों में आवश्यक है। इस अन्तर्द्वन्द्व को दिखाने में उपन्यासकार को तो कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि वहाँ वह स्वयं पात्र के हृदय के द्वन्द्व को स्पष्ट कर सकता है। नाटक में यह अवकाश न होने के कारण संस्कृत नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने स्वगत का विधान किया था। स्वगत के अन्तर्गत पात्र अपने चरित्र के सूक्ष्म तन्तुओं का स्वयं उद्घाटन करता है जिससे चरित्र एक रहस्य न बना रहकर प्रेक्षक की भावानुभूति को तादात्म्य के लिए सहज प्रेरित करता है। आधुनिक तथाकथित यथार्थवादी नाटककारों ने इसे अस्वाभाविक बताकर, अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए पात्र की अन्यमनस्क क्रियाओं एवं मूक विचारमग्न स्थिति को साधन बनाया। परन्तु भावाभिव्यक्ति के लिए वाणी का साधन कर्म के साधन से अधिक विस्तृत होने के कारण उनके चरित्रों को स्पष्ट होने के लिए बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दी नाटक की पूर्ववर्ती परम्परा में अभी स्वगत को ही अधिक प्रश्रय दिया जाता है।

चरित्र दो प्रकार के कहे जाते हैं—स्थिर (flat) और गतिशील (round) स्थिर चरित्र वे होते हैं जिनके जन्मजात संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वह

प्रतिकूल परिस्थिति में भी बदले नहीं। उनमें उद्वेलन हो सकता है परन्तु विजय उन्हीं की होती है। गतिशील चरित्र वे होते हैं जिनके जन्मजात संस्कार इतने प्रबल नहीं होते कि वे प्रतिकूल परिस्थिति के थपेड़ों को सह सकें। इनके चरित्र विश्लेषण में अधिक सतर्कता की आवश्यकता है। अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप चित्र की तरह स्पष्ट हो जाने पर ही परिवर्तन स्वाभाविक प्रतीत होगा।

चरित्रों के गुण-स्वभाव आदि के अनुसार भी चरित्रों के दो वर्ग किए जाते हैं— वर्ग प्रतिनिधि चरित्र तथा व्यक्तिवादी चरित्र। वैसे तो प्रत्येक चरित्र वैयक्तिक और वर्गगत विशेषताओं का समन्वित रूप है परन्तु यदि नाटककार ने उस चरित्र की वर्गगत विशेषताओं के उद्घाटन में ही कौशल दिखाया है तो वह वर्ग प्रतिनिधि चरित्र कहलाएगा और यदि उसकी व्यक्तिवादी विशेषताओं को ही व्यक्त किया गया है तो वह व्यक्तिवादी चरित्र कहलाएगा।

संस्कृत नाटकों में प्रायः स्थिर चरित्रों का ही अधिक आश्रय लिया गया है। इसके कई कारण हो सकते हैं प्रथम मानव चरित्र के जन्मजात संस्कारों को मोड़ने के लिए इसके प्रत्येक पहलू पर विस्तृत अन्तर्द्वन्द्व दिखाए जाने से ही स्वाभाविकता बनी रह सकती है जोकि नाटक के सीमित आकार में सम्भव नहीं। दूसरे स्थिर चरित्रों में आदर्श निर्वाह भी अधिक सम्भव है। परन्तु इससे उनकी कला की हानि नहीं हुई क्योंकि उन्होंने स्थिर चरित्र —चाहे वह कितना आदर्श पुरुष क्यों न रहा हो को मानवीय आधार पर ही ग्रहण किया है। साहित्य की किसी अन्य विधा में चरित्र के मानवत्व पर इतना बल दिया जाय अथवा नहीं परन्तु नाटक में चरित्र को अन्तर्द्वन्द्व विहीन दिखाने से कला की हानि होती है। उदाहरण के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे चरित्र को भवभूति जब शम्बूक का वध करते दिखाते हैं तो उनका हृदय दया के भाव से भर जाता है जहाँ दूसरी ओर उसी घटना के वर्णन में वाल्मीकि राम के व्यक्तित्व को पूर्णतः तटस्थ रखकर वीरता के भाव को प्रदर्शित करते हैं और इसके पूर्व ही देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि भी करवा देते हैं। रामायण के राम जातीय नेता उद्धारक जाति रक्षक और आदर्श पुरुष हैं उनमें प्रायः सभ्यता मूर्तिमान होकर आती है। उत्तररामचरित के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं। वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वह ममता भिन्नी सुख-दुख भी रखते हैं।[1]

अतः स्पष्ट हुआ कि संस्कृत नाटकों में पूर्णतः स्थिर चरित्रों में भी अन्तर्द्वन्द्व दिखलाकर नाटककार उन्हें मानव भूमि के अधिक निकट ले आया है।

---

१ नाट्य विमर्श गुलाबराय, पृष्ठ सं० २१

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में गतिशील चरित्रों को भी महत्त्व प्राप्त है। अतः
हिन्दी नाटक पर उसका भी प्रभाव पड़ा। हिन्दी नाटक की प्रारम्भकालीन ऐतिहा
सिक सांस्कृतिक धारा में प्रमुख चरित्र यद्यपि स्थिर ही हैं परन्तु कई उपप्रमुख
चरित्रों को गतिशील भी दिखाया गया है।

संस्कृत नाटकों में वर्गगत चरित्र और व्यक्तिवादी चरित्र—नामों के
समन्वित गुणों से युक्त चरित्रों का निर्माण बड़ी कुशलता से हुआ। चरित्र अपनी
वर्गगत विशेषताओं से युक्त हैं जैसे राजा है तो उसके कार्य राजधर्म के अनुरूप हैं
परन्तु फिर भी इस वर्ग की विशेषताओं की सीमा के अन्दर ही उसमें व्यक्ति
वादी विशेषताओं का आरोप हुआ जिसके कारण उसके चरित्र में महानता आ
गई है सौन्दर्य आ गया है। दुष्यन्त राजधर्म का ह्रास के कारण वर्गगत विशेष
ताओं से परे नहीं है परन्तु उसके व्यक्तिवाद की झलक भी स्पष्ट है।

आज व्यक्तिवाद का प्राधान्य होने के कारण वर्गगत विशेषताओं से परे
सोचने के लिए अधिक आग्रह है। सामाजिक नाटकों में यह स्वाभाविक भी कहा
जा सकता है क्योंकि आज समाज मानवृष्टि से पूर्णतया स्वाधीन एवं स्वच्छन्द
है। प्रत्येक व्यक्ति पर मिल जाने के पश्चात् अथवा सामान्य नागरिक अधिकारों
को समझने के पश्चात् पूर्णतया स्वच्छन्द रीति से सोच सकता है। इसलिए यदि
अब वर्ग बनाए भी जाएँ तो वह अधिक व्यापक होंगे जैसे पुरुष वर्ग युवक वर्ग
बाल वर्ग आदि। जिसमें स्वच्छन्द विचरण के लिए पूर्ण क्षेत्र है। हिन्दी नाटक
परम्परा की मूलवर्ती धारा में दोनों प्रकार के चरित्रों का समावेश है।

कथानक और चरित्र का अन्योन्य सम्बन्ध कहा गया है। जितनी महान
एवं असाधारण घटना होगी उतने ही महान चरित्रों की सृष्टि होगी। असाधारण
घटनाओं के निरूपण पर ही चरित्र चित्रण में सौन्दर्य आएगा जिसमें उसके धैर्य
उत्साह क्षमाशीलता आत्मविश्वास आदि गुण प्रकाश में आएँगे। इसी प्रकार
असाधारण चरित्रों के बिना असाधारण घटना भी सम्भव नहीं।

चरित्र का उद्घाटन नाटककार कई विधियों से करता है। पात्रों के
वार्तालाप जो कि उनके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होते हैं चरित्रों को स्पष्ट
करने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त पात्रों के क्रियाकलाप अन्य पात्रों का
उस पात्र के बारे में कथन और पात्रों के स्वगत-भाषण आदि भी चरित्र का
उद्घाटन करते हैं।

भाषा-शैली

संस्कृत नाट्यशास्त्रों के आचार्यों ने भाषा की रसानुकूलता पर अधिक बल

किया। नाट्य-वृत्तियों से उनका यही प्रयोजन था।' जैसे शृंगार रस है तो उसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होना चाहिए आदि। परन्तु जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि हिन्दी नाटक के रस में अन्य तत्त्वों का सम्मिश्रण हो जाने के कारण संस्कृत के रस तत्त्व से भिन्नता आ गई है अतः संवादों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। यथार्थवादी धारा के प्रभाव के कारण संवाद में भाव के अतिरिक्त तर्क की प्रधानता होना भी एक विशेषता हो गई। भाषा पद्य के स्थान पर गद्य प्रधान हो गई परन्तु रसानुकूल वातावरण बनाने के लिए गीत का आयोजन नाटकों में *कहीं-कहीं अपनाया गया।* संवाद का उपयोग चरित्र-चित्रण एवं कथा के विकास में गौण ऐसा मुख्य माना जाने लगा। पं० सीताराम चतुर्वेदी नाटकीय वाक्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं— नाटकीय वाक्य उस शब्द-समूह को कहते हैं जो किसी पात्र के मुख से नाटककार द्वारा निर्दिष्ट स्थिति में व्यक्त होकर नाटकीय कथावस्तु, चरित्र भाव अथवा परिस्थिति को समझने में दर्शकों को योग दें।"[2]

संवाद की परिभाषा की एक प्रमुख विशेषता स्वाभाविकता मानी गई है परन्तु स्वाभाविकता से यह अभिप्राय नहीं कि बातचीत में जो बहुधा असंगति आवृत्ति पुनरावृत्ति खण्डित वाक्य और निरर्थक बातें बीच-बीच में चलती हैं वह चलती रहें। उसमें साहित्यिकता होनी आवश्यक है। टी० एस० इलियट गद्य और पद्य भाषा का अन्तर बताते हुए साधारण बोलचाल की भाषा की पद्य से तुलना करते हुए लिखते हैं कि "परवर्ती पीढ़ियों द्वारा पढ़े और खेले जाने वाले स्थायी नाटकों की भाषा से साधारण बोलचाल की भाषा अपनी शुद्ध शब्द बनी अविरत अनुमान का आश्रय लेने की प्रवृत्ति और अव्यवस्थित एवं अधूरे वाक्यों के कारण उसी प्रकार शब्द प्रयोग लय और वाक्य-विन्यास में भिन्न होती है जिस प्रकार पद्य से।'[3]

---

१ "साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीश ने "वर्तन्तेऽमी यया वृत्तिः"—जिसके कारण रस स्वभाव हो जो रसास्वाद का प्रधान कारण हो वह वृत्ति है, इस प्रकार का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ दिखलाया है।

—रूपक रहस्य श्यामसुन्दर दास पृ० १२१

२. अभिनव नाट्यशास्त्र पं० सीताराम चतुर्वेदी पृ० ३१

३ In those plays which survive which are read and produced on the stage by later generations, the prose in which the characters speak is as remote, for the best part from the vocabulary syntax and rhythm of our ordinary speech—with its fumbling for words, its constant recourse to approximation, its disorder and its unfinished sentences—as verse is.

—Poetry and Drama T. S. Eliot Page 12

इससे स्पष्ट हुआ कि स्थायी एवं महान् नाटकों की भाषा सौष्ठव एवं गरिमापूर्ण होती है। वास्तव में स्वाभाविकता का अर्थ पात्र की प्रकृति की अनुरूपता है।

संवादों में नोक-झोंक के प्रत्युत्तर होने चाहिएँ जिससे उनमें सजीवता बनी रहे। इसके अतिरिक्त संवाद की भाषा में प्रसाद-गुण का होना आवश्यक है। यदि उसमें दार्शनिक या पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग अधिक होगा तो उस में सरसता एवं बोधगम्यता का अभाव हो जाने के कारण नाटक सर्वसाधारण की वस्तु न रहेगा।

वास्तव में संवाद कार्य कथानक, चरित्र-चित्रण आदि से पूर्णतः भिन्न तत्त्व नहीं है, प्रत्युत इसका इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि कवि ने पात्रों की अनुभूति को पूर्णतया आत्मसात कर रखा है तो संवाद स्वाभाविकता एवं साहित्यिक गरिमा सहज ही लिये होंगे। पाश्चात्य साहित्य में शैली और विचार को शरीर और आत्मा के सम्बन्ध से स्पष्ट किया गया है। स्काट जेम्स शैली और विचार के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं

'यद्यपि शैली सदा बाह्यरूप होती है तथापि इसे केवल बाह्यरूप ही नहीं मानना चाहिए। यह जैसा कि डी क्वेन्सी ने कहा, 'विचार का शरीर है' अथवा जैसे बेन जोन्सन का कथन है कि अभिव्यक्ति में शब्द और विचार शरीर और आत्मा की भाँति सम्बद्ध हैं।'[1]

अतः शैली को भी उचित महत्त्व देना चाहिए।

पात्रानुकूल भाषा भी स्वाभाविकता के निर्वाह में सहायक होती है। जैसे विद्वान् पात्रों की भाषा अधिक साहित्यिक हो और अशिक्षित पात्रों की भाषा उनके व्यक्तित्व की परिचायक। संस्कृत-नाटकों में इसी आधार पर दो भाषाएँ चलती थीं। एक संस्कृत दूसरी प्राकृत। अतः पात्र की भाषा के साथ देश काल और उसके व्यक्तित्व को सम्बद्ध रखना चाहिए।

भाव तत्त्व

संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटककार का लक्ष्य वासना रूप में स्थित स्थायी भाव को विभाव अनुभाव और संचारी के संयोग से रस में परिणत करना

---

१ Style, though always external, is not to be thought of as merely external. It should be as De Quincy said, "an incarnation of thought; as Ben Johnson said, in all speech, words and thoughts are as the body and soul."

—S. James : The Making of Literature Page 307

था। परन्तु हिन्दी-नाटक में पाश्चात्य प्रभाव के कारण उसकी स्थिति किञ्चित भिन्न हो गई। वह अब रस में परिणत होकर मानव की मूल वासना-वृत्तियों के उदात्तीकरण में समर्थ नहीं हो पाता। उसे अब कथानक को प्रभविष्णु एवं रोचक बनाने, चरित्रों में मानवीय विशेषताओं को प्रदर्शित करने तथा विचारों को गहरा करने के लिए साधन रूप में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु भाव की व्यापक महत्ता नाटक में अब भी उसी प्रकार बनी हुई है।

भाव की दृष्टि से नाटक के मूल्यांकन की प्रमुखतः दो कसौटियाँ हैं—प्रथम भाव की व्यापकता दूसरे भाव की तीव्रता। जितने अधिक व्यापक भाव का नाटककार चयन करेगा उतना ही नाटक अधिक प्रभविष्णु एवं सफल होगा। जीवन के साथ इसके व्यापक और घनिष्ठ सम्बन्ध के लिए इसी कारण आग्रह रहता है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में तो नाटक के अन्य काव्य की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट होने पर बल दिया गया है। इसी कारण से काव्य के नौ स्थायी भावों में से केवल तीन उत्साह, रति और शोक को ही नाटक के लिए उपयुक्त माना गया है क्योंकि यही भाव जीवन के प्रमुख व्यापारों को व्याप्त करने में समर्थ हैं। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में भी जीवन के साथ इसकी घनिष्ठता पर विशेष बल दिया गया है। रोनाल्ड पीकाक लिखते हैं "यदि आपने नाटक की विधा का चयन किया है तो इसमें अनुवर्ती बन्धनों सहित जीवन का सम्बन्ध स्वीकार करें।"[१]

आधुनिक युग में जीवन-क्षेत्र में वैविध्य और व्यापकता के कारण जटिलताएँ बढ़ गई हैं जिसके कारण बौद्धिकता का समावेश अधिक हो गया है परन्तु नाटक तो साधारण जीवन के बौद्धिकता पूर्ण विविध कर्मों से सफल नहीं हो सकता। नाटक में तो जितनी असाधारणता होगी उतना ही वह सफल होगा और असाधारण कर्म के प्रेरक भाव उत्साह, रति, शोक आदि गूढ़ और व्यापक भाव ही हो सकते हैं। अतः कहा जा सकता है कि नाटककार ने जितनी कुशलता जीवन को व्याप्त करने वाले भावों के चयन में दिखाई उसी अनुपात में नाटक सफल होगा।

दूसरे भाव की तीव्रता और गहराई भी नाटक को सफल एवं प्रभविष्णु बनाने का आधार है। जितनी अधिक मार्मिक स्थितियों का नियोजन नाटककार करेगा जिनमें भाव उद्दीप्त होकर प्रेक्षक के हृदय को स्पर्श कर सकें उतना ही अधिक नाटककार सफल होगा। वस्तुतः भावों की तीव्रता पर ही कथानक की

---

१ "If you choose drama as your form, you accept its evocation of life with consequent obligations."
—The Art of Drama Ronald Peacock, Page 194

प्रभविष्णुता और चरित्रांकन की सूक्ष्मता निर्भर करती है।

अतः हृदयस्पर्शी भावों के चयन और मार्मिक स्थितियों में उन्हें तीव्र बनाकर पाठक को हृदयंगम कराने में नाटककार जितना कौशल दिखाता है उतना ही नाटक सफल होता है।

विचार तत्त्व

प्रत्येक नाटक का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है, अर्थ होता है जिसको अर्पित करने के लिए ही नाटककार नाटक-रचना में प्रवृत्त होता है। यह उद्देश्य क्या हो इसे सीमित नहीं किया जा सकता। 'यह विचार तत्त्व धार्मिक-नैतिक भावात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक किसी भी प्रकार का हो सकता है जो कि प्रेक्षक के हृदय या मस्तिष्क को स्पर्श कर सके।'[1]

इसकी सीमा का विचार इसकी उपयोगिता के अनुरूप दो दृष्टियों से किया जा सकता है। विचार तत्त्व जितना अधिक शाश्वत एवं महान् होगा नाटक उतना ही अधिक स्थायी एवं महान् बनने में समर्थ होगा और जिस अनुपात में उसकी उपयोगिता एवं महत्ता सामयिक होगी उसी अनुपात में उसकी सर्वकालीनता संदिग्ध हो जाएगी। दूसरी सीमा विचार की सार्वभौमिकता की दृष्टि से है। जितना वह मानव की मूल समस्याओं के निकट होगा उतना ही अधिक वह महान् होगा।

संस्कृत-नाटकों में विचार तत्त्व प्रच्छन्न एवं निगूढ़ था। वह भाव की तहों में आवेष्टित होकर ही व्यंजित होता था। पाश्चात्य प्रभाव के कारण यह अधिक स्पष्ट एवं व्यक्त हो गया है। वस्तुतः यह जितना अधिक प्रच्छन्न एवं निगूढ़ होगा उतना ही अधिक प्रभविष्णु एवं स्थायी प्रभाव डालेगा। बौद्धिकता के प्रभाव से इसका हृदय पर प्रभाव कम हो जायगा। इसकी व्यंजना निगूढ़ एवं प्रच्छन्न होते हुए भी मुखर होनी चाहिए।

उद्देश्य की यह व्यंजना दो माध्यमों से व्यक्त होती है—प्रथम, समुच्चय (design) से दूसरे, विवरण (detail) से। समुच्चय के अन्तर्गत नाटक के कथानक का समग्र प्रभाव आएगा। घटना-प्रधान नाटक में घटना का, चरित्र प्रधान नाटक में चरित्र का और विचार प्रधान नाटक में विचार का जो समग्र प्रभाव पाठक या प्रेक्षक के हृदय को स्पर्श करता है, उसे समुच्चय का प्रभाव कहा

1 "And there must be some central meaning whether religious, moral, emotional or psychological which strikes home to the spectator's head and heart."

—The Art of Drama Ronald Peacock, Page 158

जाएगा। इस समुच्चय के प्रभाव के अतिरिक्त नाटक के तत्त्वों से उसके वृत्तों से विशिष्ट चरित्रों से तर्कों की प्रखरता तथा तीव्रता से भावों की गहराई से जो प्रभाव मन पर पड़ेंगे वे विवरण के अन्तर्गत आएँगे। प्राय विवरण से व्यञ्जित होने वाले प्रभाव मूल प्रभाव के पोषक होते हैं परन्तु कभी कभी वे अतिरिक्त प्रभाव भी रखते हैं। जैसे सिन्दूर की होली में समुच्चय का प्रभाव तो मुरारीलाल के कार्य-व्यापारों से होता है, परन्तु समस्याएँ तथा उनसे सम्बन्धित विचार विवरण से व्यञ्जित होते हैं। परन्तु प्रभावी एवं स्पष्ट व्यंजना तभी होती है जब विवरण और समुच्चय दोनों से एक ही भाव की व्यञ्जना हो।

नाटक के इन्हीं तत्त्वों के आधार पर ही नाटक की कलात्मक समीक्षा समीचीन है।

समस्या-नाटक—सैद्धान्तिक विवेचन

'समस्या-नाटक' के अभिधार्थ से ध्वनि निकलती है कि समस्या-नाटक वह नाटक है जिसमें किसी समस्या का विवेचन किया जाए। परन्तु इस दृष्टि से विचार करने पर तो प्रायः सभी नाटकों को समस्या-नाटक कहा जा सकता है। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' भी एक समस्या-नाटक कहा जाएगा क्योंकि उसमें गान्धर्व विवाह की समस्या का आख्यान है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में 'समस्या-नाटक' का व्यापक रूप में प्रयोग बर्नार्ड शॉ ने अपने तथा इब्सन के नाटकों के लिए किया था। इस नाटक के अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना शैली दोनों में परम्परागत नाट्यरूप से भिन्नता थी। परन्तु इस नवीन नाम में इस नाट्यरूप की समस्त विशेषताओं को व्याप्त करने की सामर्थ्य न होने के कारण यह नाम भी पाश्चात्य आलोचना जगत् में रूढ़ न हुआ। आलोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इसे भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया। प्रसिद्ध आलोचक चैंडलर ने इब्सन के नाटकों को 'विचारात्मक नाटक' और बर्नार्ड शॉ के नाटकों को 'व्यंग्यात्मक नाटक' कहा है।[1] पाश्चात्य नाट्य-जगत् के प्रसिद्ध आलोचक डा० निकल ने बर्नार्ड शॉ के नाटकों के लिए 'उद्देश्यपूर्ण उपहास (purposeful laughter)' शब्द प्रयुक्त किया।[2] इसी प्रकार आलोचकों में किसी ने शैली के आधार पर इसे तर्क-वितर्कपूर्ण नाटक (discussion play) कहा तो किसी ने 'नाटकीय संवाद'।[3] हिन्दी में इस धारा का प्रवर्तन हुआ तो बर्नार्ड शॉ द्वारा दिया गया नाम 'समस्या-नाटक' ही प्रचलित हो गया। जैसा कि नाम विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि यह नाम इसकी सम्पूर्ण विशेषताओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं तथापि क्योंकि यह नाम

---

१ "Thus Shaw is considered, in the last chapter as representative of the drama of satire and Ibsen, in the first, as master of the drama of ideas."

—Preface Chandler Aspects of the Modern Drama

२. Allardyce Nicoll World Drama

३ Hudson (L.) The Twentieth Century Drama

(Chapter The Author's Theatre)

हिन्दी-जगत् में कई ग्रंथों तक रूढ़ हो चुका है इसलिए इसी नाम का प्रयोग समीचीन होगा। इस नाम से विशिष्ट अर्थ का द्योतन करने के लिए इसके साथ 'तथाकथित' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

समस्या-नाटक का वस्तुपक्ष

इस नाट्यरूप की प्रथम विशेषता है कि इसमें नाटककार का उद्देश्य रस व्यंजना नहीं समस्या चित्रण है और समस्या के सफल चित्रण के लिए नाटककार नाटक की विधा को साधनरूप में प्रयुक्त करता है। सौन्दर्य-सृष्टि अथवा प्रेक्षक को आनन्दित करना उसके सम्मुख गौण महत्त्व रखते हैं। समस्या के तीव्र तम रूप को प्रेषित कर पाठक की विचारशक्ति को उद्बुद्ध करना ही उसे अभीष्ट है। वह नाटक के अन्य तत्त्व—कथानक चरित्र संवाद आदि की योजना इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर करता है। अन्य तत्त्व किस सीमा तक अपने परम्परागत मान्यरूप से भिन्न हो जाते हैं, इसका विचार शिल्पपक्ष में किया जायगा।

दूसरे यह कि इस नाट्यरूप मे समस्या से अभिप्रेत अर्थ समाज की सामयिक समस्या है जो समाज के अधिकांश वर्ग को उद्वेलित करने के कारण ज्वलन्त भी कही जा सकती है। यह समस्या समाज के भीतर प्रकट रहस्य की तरह व्याप्त होती है परन्तु सचाई को तटस्थ भाव से लाकर उसमें दूध का दूध और पानी का पानी करने का साहस समाज में नहीं होता यही काम यथार्थवादी नाटककार करता है। बर्नार्ड शॉ इस विषय में अपने *आईडियल्स और आईडियलिस्ट*[1] नामक लेख में विस्तृत चर्चा करते हुए लिखते हैं कि हम स्पष्टतया आदर्शों की अवहेलना देखते हुए भी आँखें मूँद लेते हैं। यह समस्या समाज के अधिकांश वर्ग के सम्मुख उपस्थित होती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने को अकेला समझ कर समाज के आदर्शों के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं करता। शॉ इस बारे में उदाहरण देते हुए कहते हैं कि समाज में प्रत्येक सहस्र व्यक्तियों में से ७०० व्यक्ति मर्यादापरायण होने के कारण विचार ही नहीं करते २९९ व्यक्ति उन आदर्शों से दुखी हैं परन्तु सामाजिक आदर्शों के नाम के कारण वह इस बोझ को सहते हैं और मुँह खोलने का साहस नहीं करते। केवल एक व्यक्ति यथार्थवादी नाटककार है जो उनकी समस्या को उनके सम्मुख खोलकर रखता है और समाज को अपने आदर्शों के प्रति पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित

---

१ Quintessence of Ibsenism

करता है। ग्रतः स्पष्ट हुआ कि समस्या से अर्थ सामयिक समस्या ही नहीं ज्वलन्त समस्या है जिससे अधिकांश लोग पीड़ित हैं।

नाटककार का ज्वलन्त समस्या को चित्रित करने का प्रमुख उद्देश्य समाज के विचारों की दिशा-परिवर्तन करना है। उसके पास एक निश्चित विचार है, सन्देश है जिसके प्रचार के लिए वह नाटक को माध्यम बनाता है। श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र स्वामी की भूमिका में लिखते हैं 'यह युग कलाकार का नहीं तत्त्वदर्शी कलाकार का है जिसे तुम्हारे शॉ महोदय ने फिलासफर आर्टिस्ट कहा है। उसके (नाटककार के) जीवन की अनुभूति तुम्हारे जीवन में प्रवेश करती है। तुम भीतर ही भीतर बदल जाते हो। तुम्हें पता नहीं चलता। जब तुम जगत पर दृष्टि डालते हो देखते हो वह बदल गया तुम भी बदल गए। जो कुछ था सब बदल गया। वह क्यों? क्या कुछ गया? यह काम कलाकार का नहीं तत्त्वदर्शी कलाकार का है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि समस्या-नाटककार समस्या-चित्रण में तटस्थ रहते हुए भी एक मध्य लिये रहते हैं। प्रसिद्ध आलोचक निकल का भी शॉ के नाटकों के लिए 'उद्देश्यपूर्ण उपहास' शब्द का प्रयोग इसी तथ्य को ध्वनित करता है। शॉ ने स्वयं भी मिसिज़ वारेन्ज़ प्रोफेशन की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि मैंने अपने विचारों के प्रचार के लिए ही नाटक के माध्यम को अपनाया है यही विधा मुझे सबसे सरल प्रतीत हुई।

इस नाटक का चौथी एवं प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें केवल समस्या का चित्रण मात्र ही नहीं होता प्रत्युत उसके पक्ष एवं विपक्ष पर तर्कपूर्ण विवेचन किया जाता है। इसी तर्क-वितर्क के माध्यम से नाटककार समस्या के विभिन्न पहलुओं को बुद्धि के निकष पर परखता है और प्रेक्षक के सम्मुख सारी समस्या एक खुली पुस्तक की भाँति स्पष्ट हो जाती है। यह तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन ही इस नाट्यरूप को अन्य नाटकों से भिन्न करता है।

भारतेन्दु काल के नाटकों में भी सामाजिक एवं सामयिक समस्याओं का चित्रण किया गया था परन्तु विचारपूर्ण बौद्धिक तर्क-वितर्क के अभाव में उन्हें तथाकथित समस्या-नाटकों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

समस्या-नाटक में तर्क-वितर्क की अनिवार्यता का विचार करते हुए शॉ लिखते हैं कि "वह नाटक जिसमें कोई तर्क नहीं कोई समस्या नहीं गम्भीर नाटकों की

---

[1] भूमिका : स्वामी १ १

श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। [१]

इस नाटक के प्रणेताओं का विचार है कि समाज के लिए उपयोगिता और स्थायित्व की दृष्टि से यह नाटक अन्य नाटकों की अपेक्षा कहीं ऊँचा है। शॉ इन नाटकों की तुलना सामान्य घटना प्रधान नाटक से करते हुए लिखते हैं कि सामान्य नाटक जिनमें दो प्रेमियों के मध्य प्रतिद्वन्द्वी की कथा का चित्रण होता है प्रेक्षक को दस-बीस कथाओं के प्रेक्षण के पश्चात् उन सभी स्थितियों तथा उनके सम्भावित परिवर्तनों से परिचित करा देता है जिनके आधार पर उन कथानकों का संगठन किया जाता है। इस प्रकार कुछ दिन के पश्चात् प्रेक्षक के लिए घटनाओं में कोई आकर्षण नहीं रहता। फिर कुछ दिन तक वह अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के कुशल अभिनय का प्रशंसक बनकर नाटक देखने जाता है परन्तु यह भी अधिक दिन तक उसे आकृष्ट नहीं कर सकता। और शॉ का ऐसा विचार है कि विचारपूर्ण नाटक को छोड़कर बिना संगीत के किसी नाटक का कोई भविष्य नहीं है।"[२] वह इस नाटक के स्वरूप और उपयोगिता के बारे में लिखते हैं "उसी नाटक की वस्तु प्रकृति मनोरंजक हो सकती है जिसमें व्यक्तिगत चरित्र की महत्त्वपूर्ण समस्या को उठाया जाय और उस पर सुझावपूर्ण तर्क-वितर्क किया जाय। प्रेक्षक ऐसे नाटकों से लाभान्वित होगा इस प्रकार वह न केवल अपने धन के बदले ही कुछ प्राप्त करेगा प्रत्युत् कुछ सामग्री वह स्थायी सम्पत्ति के रूप में भी ग्रहण करेगा। [३]

इस नाट्यरूप के शिल्पपक्ष में भी सामान्य नाटक से अन्तर आ जाने के कारण इसका अलग विवेचन आवश्यक है।

---

१ "But anyhow the play in which there is no argument and no case no longer counts as serious drama."

—Quintessence of Ibsenism Shaw Page 139

२ *And there is flatly no future now for any drama without music except the drama of thought*

—Europeans Theory of Drama Clark, Page 473

३ Now an interesting play cannot in the nature of things mean anything but a play in which problems of conduct and character of personal importance to the audience are raised and suggestively discussed. People have a thrifty sense of taking away somethings from such plays they not only have had something for their money but they retain that something as permanent possession.

—*Quintessence of Ibsenism, Page 137*

शिल्पपक्ष

कथानक

नाटककार का उद्देश्य सामयिक समस्या का चित्रण करना है अतः इसके लिए उसे कथावस्तु का चयन भी वर्तमान समाज से ही करना पड़ेगा। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र इसी के लिए तर्क देते हुए लिखते हैं "जिन सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है। यदि हम चाहें भी तो उनका समावेश इतिहास के महान् चरित्रों में नहीं कर सकते। इस कारण हारकर हमें सामाजिक चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी।"[1]

इस प्रकार के नाटकों में कथानक का चयन भी निम्न आधार पर किया जाता है। इसके लिए घटना-प्रधान कथानक अपेक्षित नहीं। क्योंकि ऐसा नाटक जिसमें नायक और उसके प्रतिद्वन्द्वी का प्रेमिका के लिए द्वन्द्व हो और उनके द्वारा अपनी सफलता के लिए भिन्न-भिन्न उपाय—मिथ्यारोप, छल, भ्रम इत्यादि बरते जायें, बौद्धिक तर्क वितर्क का आयोजन एक हास्यास्पद बात होगी। वास्तव में ऐसे नाटकों में तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन के लिए कोई सामग्री ही नहीं होती। समस्या-नाटक के कथानक का आधार समाज के बीच अस्थिर आदर्शों के सन्दर्भ में व्यक्ति और उसके परिवेश के मध्य का द्वन्द्व होता है। इसमें समस्या पर बौद्धिक तर्क-वितर्क के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है।

कथानक की परिणति को भी समस्या-नाटक में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। क्योंकि व्यक्ति और उसके परिवेश का द्वन्द्व कहीं भी समाप्त हो सकता है। प्रमुख महत्त्व तो द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के बिना तो समस्या-नाटक का अस्तित्व ही नहीं रहता। बर्नार्ड शॉ द्वन्द्व के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं, "नाटक का अन्त सुखान्त हो अथवा दुःखान्त अथवा जीवन की तरह इसका कोई भी अन्त न हो परन्तु संघर्ष अपरिहार्य है संघर्ष नहीं तो नाटक नहीं।"[2]

सामान्य कथानकों में असाधारणत्व एक विशेष गुण माना जाता है। जितना असाधारण कथानक होगा उतना ही रस घटनाओं के कुशल संयोजन द्वारा

---

१ भूमिका : संन्यासी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ० २

२ The end may be a reconciliation or destruction or as in life itself there may be no end but the conflict is indispensable no conflict, no drama.

—Plays pleasant & unpleasant, Preface, Page vi

मनोरंजक एवं प्रभविष्णु बनाया जा सकता है। परन्तु समस्या-नाटकों में असाधारणत्व की अपेक्षा नित्यप्रति के चिर-परिचित जीवन को आधार बनाया जाता है। शॉ इब्सन के नाटकों की समीक्षा में लिखते हैं कि "यह माना जाता था कि जितनी असाधारण नाटकीय स्थिति होगी नाटक उतना ही श्रेष्ठ होगा परन्तु इब्सन ने इसके विपरीत विचार व्यक्त किया है, जितनी परिचित वस्तु स्थिति होगी उतना ही नाटक अधिक मनोहारी होगा।"[1]

आधार-भूमि के इस परिवर्तन के कारण कथानक के विन्यास-क्रम में भी सामान्य नाटकों से भिन्नता पाई जाती है। समस्या-नाटक के कथानक के बर्नार्ड शॉ के अनुसार तीन भाग होते हैं—परिचय (Exposition) उलझन (Situation) और तर्क-वितर्क (Discussion)।

प्रथम भाग में नाटककार समस्या के प्रत्येक पहलू को स्पष्ट करने वाला एक चित्र उपस्थित करता है जिससे पाठक के सम्मुख समस्या का एक पक्ष स्पष्ट हो जाता है और प्रायः यही प्रथम अंक समाप्त होता है। इस अंक में कथोपकथन को अत्यन्त संयत रखना पड़ता है।

नाटक के दूसरे भाग में कथा के विकास के कारण उलझन उत्पन्न होती है और इसी उलझन के कारण पात्र समस्या के दूसरे पक्ष पर विचार करने को बाध्य हो जाते हैं। यह परिस्थिति पूर्व परिस्थिति के अभाव से उत्पन्न होती है परन्तु इसका स्वरूप अधिक उलझा हुआ और जटिल रहता है। पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के विचार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस प्रकार समस्या के दोनों पक्षों का विरोध जहाँ चरम बिन्दु पर पहुँचकर पूर्ण वेग से एक दूसरे को अपनी ओर खींचता है 'उलझन' की स्थिति कहलाता है।

समस्या-नाटक का तीसरा भाग ही सबसे महत्त्वपूर्ण होता है और यही इसे इतर नाटकों से सर्वथा भिन्न करता है। शॉ ने इसे समस्या नाटककार की कसौटी कहा है। इसमें नाटककार दोनों पक्षों के विचारों का गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करता है और निष्पक्ष भाव से बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा पाठक की बुद्धि को उस समस्या की ओर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। नाटककार स्वयं किसी भी पक्ष में अपना निर्णय न देते हुए प्रायः अनिर्णीत दशा में ही नाटक को समाप्त कर देता है क्योंकि उसे केवल पाठक का विचारोद्बोधन ही अभीष्ट

---

१ And it was held that the stranger the situation the better the play Ibsen saw on the contrary the more familiar the situation the more interesting the play

—Quintessence of Ibsenism Shaw Page 144

था। शॉ ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए इब्सन के 'ए डाल्स हाउस' के अंतिम एवं महत्त्वपूर्ण दृश्य का उदाहरण दिया है जिसमें नोरा कहती है— 'आओ हम विगत परिस्थिति का ठण्डे मस्तिष्क से विचार करें।'"[1]

इस वस्तु विन्यास का इतर नाटकों के वस्तु-विन्यास से भेद स्पष्ट करते हुए शॉ लिखते हैं 'पूर्ववर्ती सुसंगठित कहे जाने वाले नाटकों के प्रथम अंक में परिचय द्वितीय अंक में उलझन और तृतीय अंक में घटना सुलझ जाती थी परन्तु अब परिचय, उलझन और तर्क-वितर्क ही तीन भाग हैं जिसमें तर्क वितर्क ही नाटककार की प्रतिभा की कसौटी है।'"

शॉ ने समस्या की दृष्टि से वस्तु विन्यास के इस स्वाभाविक क्रम को बनाए हुए भी इस क्रम पर अधिक बल नहीं दिया। इसमें समस्या तथा घटना के अनुरूप परिवर्तन हो सकता है। वस्तुतः घटना और तर्क-वितर्क को प्रधान रूप देना ही लक्ष्य है जिसके लिए तर्क-वितर्क कभी बाद में होता है और कभी-कभी घटना से प्रारम्भ से अन्त तक चलता है। शॉ इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं 'तदनुसार हमारे इन नाटकों में जिनमें कुछ मेरे नाटक भी सम्मिलित हैं कुछ में प्रारम्भ तर्क-वितर्क से होता है और अन्त घटना से और दूसरों में तर्क वितर्क और घटनाएँ प्रारम्भ से अन्त तक परस्पर अनुस्यूत होती हैं।'"[2]

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन नाटकों का आधार यथार्थवाद है। जैसे इन नाटकों की घटनाएँ हमारी परिचित होती हैं उसी प्रकार पात्र भी समाज की भाँति साधारण स्तर के होते हैं। साधारणतः पात्र वर्गगत विशेषताओं से युक्त होते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र इस बारे में संन्यासी की भूमिका में लिखते हैं 'मैंने अपने चरित्रों को यथार्थवादी जीवन के अनुकूल बनाया है उनके हँसने और

---

१ Quintessence of Ibsenism

Formerly you had in what was called well made play an exposition in the first act, a situation in the second and unravelling in the third. Now you have exposition situation and discussion and discussion is the test of the playwright

—Quintessence of Ibsenism, Page 135

२ Accordingly we have now plays, including some of my own, which begin with discussion and end with action, and others in which the discussion interpenetrates the action from beginning to end.

—Quintessence of Ibsenism Page 138

रोने में तुम्हें अपने जीवन की बातें मिलेंगी।" इन चरित्रों में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापन कर नाटककार इन्हें ऐसी परिस्थितियों में लाकर खड़ा कर देता है जिससे वे अपने परम्परागत विचारों से भिन्न सोचते हुए भी स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। चरित्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बारे में मिश्रजी लिखते हैं "मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, चलते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गए हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चला हूँ।'

ये चरित्र वर्गगत विशेषताओं से युक्त होते हुए भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के कारण परिस्थिति के अनुसार विचार में परिवर्तन भी कर लेते हैं। इस प्रकार ये चरित्र विकसनशील (round) चरित्र कहे जाएँगे। ये चरित्र कई बार इतने बदल जाते हैं कि सर्वथा अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। शॉ से जब इन चरित्रों की अस्वाभाविकता के बारे में पूछा गया तो उसने शीलवैचित्र्य का आश्रय लेते हुए कहा कि चरित्र की भावनाएँ किस परिस्थिति में परिवर्तित हुई हैं इस सारी प्रक्रिया की स्वाभाविकता को न देखकर केवल सामाजिक शास्त्र के कोड के अनुसार फैसला देने वालों को मैं नाटककार कहूँ या गृह निर्माण शिल्पकार।'

चरित्रों की एक तीसरी विशेषता यह है कि वे प्रायः कर्मशील होने की अपेक्षा विचारशील अधिक होते हैं। जीवन में प्रतिरोध उत्पन्न होने पर वे समस्या पर विचार ही अधिक करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि मध्यम वर्ग के चरित्रों में इतिहास-प्रसिद्ध नायकों की तरह कर्मशीलता नहीं होती। वे प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करने की अपेक्षा समस्या पर सोच-विचार ही अधिक करते हैं।

इस नाट्यरूप में पात्रों का वर्गीकरण दास और आदर्श पात्र की दृष्टि से नहीं किया जा सकता और न ही उन्हें देव और दानव की दैवी-दैत्याई श्रेणियों में रखा जा सकता है। सभी पात्रों में दोनों प्रकार की विशेषताओं का सामंजस्य होता है और नाटककार इनका चित्रण सहानुभूति से करता है। कथानक के

१　संन्यासी　लक्ष्मीनारायण मिश्र　भूमिका, पृ० ७

२　संन्यासी　लक्ष्मीनारायण मिश्र　भूमिका　पृ ८

३　The Author's Apology from Mrs. Warren's Profession.

विधान एवं चरित्र-चित्रण की इस विशेषता के कारण नाटक में नायक और प्रति-नायक की पृथक् विशेषताओं का आकलन नहीं हो सका। शॉ का तो कथन है कि इस नाटक में नायक और प्रतिनायक होता ही नहीं। 'क्विन्टेसेंस ऑफ इब्सनिज़्म' में वे लिखते हैं, 'नाटक में द्वन्द्व शुद्ध बुराई अथवा भलाई के मध्य नहीं होता। प्रतिनायक भी उतना ही सच्चा एवं ईमानदार होता है जितना कि नायक। वस्तुतः यह प्रश्न ही नाटक को मनोरंजक बनाता है (यदि वह मनोरंजक हो) कि इसमें नायक कौन है और प्रतिनायक कौन। या दूसरे शब्दों में इसमें कोई नायक नहीं और कोई प्रतिनायक नहीं।'[1]

चरित्र चित्रण में विशेषकर विकासशील चरित्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया दिखाना नितान्त अनिवार्य है। नाटक में इसके लिए सरल और सुगम मार्ग स्वगत भाषण का है। परन्तु समस्या-नाटक में जीवन की यथार्थता के आधार पर स्वगत भाषण का बहिष्कार किया जाता है। इसके स्थान पर नाटककार मूक अभिनय को प्रश्रय देता है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र अभिनय और स्वगत-भाषण की तुलना करते हुए लिखते हैं—"पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नहीं। मनुष्य के भीतरी भाव एकान्त में भी उसकी आँख अथवा चेहरे की आकृति या कभी-कभी किसी तरह का काम कर देने में व्यक्त होते हैं चुपचाप कुर्सी पर बैठकर चारपाई पर लेटकर या ज़मीन पर खड़ा होकर व्याख्यान देने में नहीं।"[2] मूक अभिनय के अतिरिक्त अर्द्धोक्तियाँ आदि भी अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं।

भाषा-शैली

समस्या-नाटकों में परम्परागत कवित्वपूर्ण संवादों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भाषा को कल्पना एवं भावना की कड़ियों से उठाकर स्वाभाविक एवं व्याव-हारिक स्तर पर लाया गया। शॉ का इस बारे में कथन है कि 'यथार्थ जीवन में बोली जाने वाली सरल और प्रकृत भाषा को लिखना अपेक्षाकृत कठिन कार्य

---

१ "The conflict is not between clear right and wrong: the villain is as conscientious as the hero if not more so. In fact the question which makes the play interesting (when it is interesting) is which is the villain and which the hero, or to put in another way there are no villains and no heroes."

—Quintessence of Ibsenism Shaw Page 139

२ मुक्ति का रहस्य लक्ष्मीनारायण मिश्र भूमिका पृ० ११

है परन्तु मेरी इच्छा मानव के चित्र को अंकित करने की थी। अतः मैंने उन्हें देवताओं की भाषा बोलने की अनुमति नहीं दी।"[१]

इस प्रकार भाषा में प्राचीन रूढ़ियों का सर्वथा परित्याग कर दिया गया। संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियतश्राव्य, अश्राव्य, सर्वश्राव्य आदि संवाद अस्वाभाविकता के कारण इस नाटक में ग्रहणीय नहीं हुए। गीत, गद्य-गीत, दार्शनिक शब्दावली भी बहिष्कृत कर दी गई। संवादों में तथा चरित्रों में किसी भी तत्त्व के प्रयोग के लिए निकष बताते हुए शॉ नाटक की प्रविधि की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, "नाटक श्रोतागण को यह विश्वास करा देने की कला है कि यथार्थ व्यक्तियों के साथ यथार्थ घटनाएँ घटित हो रही हैं।"[२]

इस प्रकार प्राचीन रूढ़ियों के स्थान पर भाषा में व्यावहारिकता के अनुरूप कुछ नवीन गुणों की योजना की गई। भाषा के ऐसे स्वरूप को अपनाया गया है जिसमें तर्क को वहन करने की सामर्थ्य हो। इस भाषा को अदालती या वकालती भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। भाषा में व्यंग्य, अलंकार, उपमा, साधर्मिकता, दृष्टान्त आदि के स्वाभाविक प्रयोग द्वारा उसे जीवनगत संवेदना के प्रेषण के योग्य बनाया गया। इसमें नाटककार उन सब उपायों का प्रयोग करता है जोकि एक कुशल उपदेशक या वक्ता अपने श्रोतावर्ग के संवेदन-तत्त्व को अपने अधिकार में लाने के लिए किया करता है।

संवादों की शैली की दृष्टि से भी इस नाटक में परम्परागत नाटकों से भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता की ओर संकेत करते हुए शॉ लिखते हैं—'इस नाटक में नाटककार उन सब विधियों का बहिष्कार करता है जिनके द्वारा पूर्ववर्ती नाटककार असाधारण पात्रों की असाधारण परिस्थितियों में भी अपने श्रोतागण का मनोरंजन करता था। इसके स्थान पर वह वकालती ढंग की तर्क-सज्जित और अभियोग लगाने वाली शैली में मानवों की सभ्यता पर विचार करता है, और इसमें वह उन सब अलंकृत तथा नैतिक कलाओं का योग प्राप्त करता है जिन्हें कुशल वक्ता, उपदेशक, वकील या महाकाव्यकार

---

१ ... the very much difficult art of writing the genuine, plain language spoken in real life. My desire was to depict human beings and therefore I would not make them speak the language of gods."
—Drama from Ibsen to Eliot. Williams

२. "(Drama) is the art of making the audience believe that real things are happening to real people."
—B. Shaw
(Encyclopedia Americana)

प्रयोग किया करते हैं।[1] इब्सन ने इसके लिए ऐसी शैली का प्रयोग किया है जिससे दर्शक चारों ओर से अभिभूत होकर उसके प्रेषित विचार के अनुरूप सोचने के लिए बाध्य हो जाएं। वह दर्शक की मानसिक दुर्बलताओं को ही समझाता है।

जीवन की यथार्थता के अनुरूप होने के कारण संवाद टूटे-फूटे होते हैं परन्तु फिर भी संवादों में प्रवाह बना रहता है। उनमें व्यंग्य का समावेश विशेष रूप से होता है। संवाद प्रायः लघु होते हैं और उनके विन्यास में शिष्टता की झलक मिलती है।

निष्कर्ष

समस्या-नाटक की प्रविधि के विश्लेषण के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस नाटक की आधारभूत विशेषताएँ मूल रूप से चार हैं जो इसे इतर नाटकों से भिन्न करती हैं। प्रथम विशेषता है यथार्थवाद अर्थात् भावुकता रोमांस अतिरंजना आदि का बहिष्कार। इसी विशेषता का प्रभाव कथानक, पात्र, संवाद, भाषा, अभिनय सभी पर विशेष रूप से पड़ता है। दूसरी विशेषता है बौद्धिकता जिसके अन्तर्गत विचार एवं तर्क-वितर्क आता है। इसमें नाटककार की जितनी गहरी पैठ होगी नाटक उतना ही स्थायी होगा। तीसरी विशेषता है व्यक्ति और समाज के हितों के सम्बन्ध में आदर्शों का विश्लेषण। यही नाटककार की प्रेरणा है जिससे अनुप्राणित होकर वह नाटक-रचना में प्रवृत्त होता है। और सबसे अन्त में यह कि इन सब विशेषताओं के होते हुए भी वह नाटक है वाद-विवाद गोष्ठी नहीं। उसमें नाटक के सर्वगुण सम्पुष्टित रहने आवश्यक हैं ताकि नाटककार समाज को नाटक प्रदान करते हुए अपने विचारों का प्रचार कर सके।

---

१ "...the dozens of old stage tricks by which audiences had to be induced to take an interest in unreal people and improbable circumstances, and the substitution of a forensic technique of recrimination, disillusion and penetration through ideals to the truth, with a free use of all the rhetorical and lyrical arts of the orator the preacher the pleader and the rhapsodist.

—Quintessence of Ibsenism, Sh...

मिश्रजी के नाटकों का वर्गीकरण

वर्गीकरण का आधार

नाटकों का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। परन्तु किसी नाटक को विशिष्ट वर्ग में सम्मिलित करने के लिए दो आधार प्रमुख हैं। प्रथम नाटक में चित्रित बिम्ब का आधार और दूसरे शिल्प-संगठन का आधार।

नाटककार अपने उद्देश्य को विचार को अभिव्यक्त करने के लिए अनिवार्यत समाज के किसी बिम्ब को माध्यम बनाता है। यह बिम्ब अतीत का हो अथवा वर्तमान का परिवार का हो अथवा समाज का मानसिक हो अथवा भौतिक व्यष्टिगत हो अथवा समष्टिगत इसका होना अनिवार्य है। यह बिम्ब प्रेक्षक के मन पर एक संश्लिष्ट एवं स्थायी प्रभाव डालता है जिसके कारण नाटक का स्वरूप प्रेक्षक के हृदय में अक्षुण्ण रहता है। इस संश्लिष्ट प्रभाव के आधार पर ही वह दो नाटकों में व्यावर्तन करता है अत नाटकों के वर्गीकरण में इसे आधार मानना समीचीन होगा।

दूसरा दृष्टिकोण शास्त्रीय है। नाटक वस्तुत कथावस्तु, विचार चरित्र आदि विभिन्न तत्त्वों की एक संश्लिष्ट इकाई है परन्तु इन तत्त्वों के संग्रथन के अनुपात के आधार पर नाटक के कई वर्ग बनाए जा सकते हैं। किसी नाटक में कथानक पर अधिक बल दिया जाता है किसी में चरित्र पर किसी में समस्या पर और किसी में विचार को प्रेषित करने पर। इसमें विचारणीय तथ्य यह है कि नाटक के एक तत्त्व पर बल देने पर शेष तत्त्व भी उसी के अनुरूप बदल जाते हैं जिससे सारे नाटक के शिल्प-संगठन में अन्तर आ जाता है। (नाटक के सैद्धान्तिक विवेचन में इसका विचार विस्तार से किया गया है)। अत नाटक के जिस तत्त्व के आधार पर अन्य तत्त्वों को संग्रथित किया गया है वही शिल्प संगठन का आधार कहा जायगा। इसी आधार पर नाटक में अन्विति भी सर लता से लायी जा सकती है। इस आधार पर नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा—घटना-प्रधान नाटक चरित्र-प्रधान नाटक विचार-प्रधान नाटक रस-प्रधान नाटक आदि।

अत स्पष्ट हुआ कि नाटकों के वर्गीकरण के लिए प्रमुख आधार दो हैं—एक बिम्ब का दूसरा रूप-विधान का। इन्हीं दोनों के आधार पर मिश्रजी के

नाटकों का वर्गीकरण करना समीचीन होगा।

मिश्रजी के नाटकों की कालक्रमानुसार सूची इस प्रकार है—

		प्रकाशन-तिथि	लेखक के कथनानुसार लेखन-तिथि
१	अशोक	सन् १९२७	सन् १९२६
२	संन्यासी	सन् १९२९	सन् १९२८
३	राक्षस का मन्दिर	सन् १९३२	सन् १९३०
४	मुक्ति का रहस्य	सन् १९३२	सन् १९३०
५	राजयोग	सन् १९३४	सन् १९३२
६	सिन्दूर की होली	सन् १९३४	सन् १९३२
७	आधी रात	सन् १९३७	सन् १९३४
८	नारद की वीणा	सन् १९४६	
९	गरुड़ध्वज	सन् १९४५	
१०	दशाश्वमेध	सन् १९४९	
११	वत्सराज	सन् १९५०	
१२	वितस्ता की लहरें	सन् १९५२	
१३	चक्रव्यूह	सन् १९५३	
१४	कवि भारतेन्दु	सन् १९५५	
१५	वैशाली में वसन्त	सन् १९५५	
१६	जगद्गुरु	सन् १९५८	
१७	मृत्युञ्जय	सन् १९५८	
१८	धरती का हृदय	सन् १९६२	
१९	अपराजित	सन् १९६१	
२०	चित्रकूट		

विषय के आधार पर इन नाटकों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) सामाजिक नाटक—इस वर्ग में छह नाटक आते हैं—संन्यासी राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य राजयोग सिन्दूर की होली और आधी रात।

(ख) ऐतिहासिक नाटक—इस वर्ग के अन्तर्गत मिश्रजी का प्रथम नाटक 'अशोक' तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के छह नाटक—वत्सराज दशाश्वमेध वितस्ता की लहरें, गरुड़ध्वज, वैशाली में वसन्त और धरती का हृदय आते हैं।

(ग) पौराणिक नाटक—इस वर्ग में 'चक्रव्यूह' 'अपराजित' 'चित्रकूट' और 'नारद की वीणा' को रखा जा सकता है। 'चक्रव्यूह' और 'अपराजित'

महाभारत है चित्रकूट का रामायण और 'नारद की वीणा' का काल्पनिक। परन्तु क्योंकि उसमें पौराणिक वातावरण को प्रमुख रखा गया है और पाठक इससे पौराणिक बिम्ब ही ग्रहण करता है अतः इसे पौराणिक नाटकों के ही वर्ग में रखा गया है।

(घ) जीवनी या चरितमूलक नाटक—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि भारतेन्दु, जगद्गुरु और मृत्युंजय तीन नाटक आते हैं। जगद्गुरु में शंकराचार्य और मृत्युञ्जय में महात्मा गांधी के जीवन के प्रधान कर्मों को नाटक का रूप दिया गया है। यद्यपि ये नाटक ऐतिहासिक नाटकों के वर्ग में भी रखे जा सकते हैं परन्तु इन्हें पढ़ने के पश्चात् पाठक के हृदय में स्थायी बिम्ब इन चरित-नायकों के व्यक्तित्व का ही पड़ता है जिसके कारण इन्हें अलग वर्ग में रखा गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय केवल सामाजिक नाटकों का अध्ययन है अतः शिल्प-संगठन की दृष्टि से केवल सामाजिक नाटकों का ही वर्गीकरण किया गया है।

शिल्प-संगठन की दृष्टि से नाटकों का वर्गीकरण और उनका नामांकन करने से पूर्व वर्गीकरण के विषय में कतिपय सीमाओं का विचार कर लेना आवश्यक है। सर्वप्रथम नाटक के शिल्प के किसी वर्ग के लिए कोई सुस्थिर परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। प्रत्येक नाटककार उसमें अपने विषय एवं उद्देश्य के अनुरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर लेता है। दूसरे प्रायः दो प्रकार के निकटवर्ती शिल्पों में व्यावर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि शिल्प की सीमाओं में लोच के कारण नाटक को दोनों में से किसी एक वर्ग में सहज ही रखा जा सकता है जैसे घटना-प्रधान नाटक और चरित्र-प्रधान नाटक में। इसके अतिरिक्त कभी-कभी एक ही नाटक में कई वर्गों के शिल्प की विशेषताओं का समायोग हो जाता है जैसे सिन्दूर की होली में सम्पूर्ण कथा घटना को आवृत करके चलती है परन्तु कथोपकथनों में समस्याओं का भी तर्कपूर्ण विवेचन हो गया है। अन्य नाटकों में इस प्रकार का सामंजस्य इतना स्पष्ट नहीं होता परन्तु निकटवर्ती कई वर्गों के शिल्प-तत्त्वों को एक ही नाटक में स्पष्ट किया जा सकता है।

मिश्रजी के नाटकों का वर्गीकरण करते समय यह सभी समस्याएँ प्रमुख रूप से सामने आती हैं। मिश्रजी के पूर्व हिन्दी-नाटक में इसकी कोई सुनिश्चित परम्परा न थी। मिश्रजी इब्सन और शॉ की शैली से प्रभावित हुए परन्तु उद्देश्य की भिन्नता के कारण शिल्प-संगठन में कई प्रकार के परिवर्तनों का आना स्वाभाविक ही था। अतः मिश्रजी के नाटकों में यथार्थवाद प्रतीकवाद विचारोत्तेजक शैली समस्या विवेचन शैली और व्यंग्य शैली आदि भिन्न-भिन्न प्रणालियों का समायोग हुआ है। अतः वर्गीकरण में जिस वर्ग के तत्त्वों को अधिक प्रस्फुटित

पाया गया है उसी वर्ग में नाटक को अभिहित करना समीचीन समझा गया है।

शिल्प-संगठन की दृष्टि से सामाजिक नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) समस्या-नाटक
  १ संन्यासी
  २ आधी रात

(ख) विचार प्रधान नाटक
  १ राक्षस का मन्दिर (प्रतीक नाटक)
  २ मुक्ति का रहस्य
  ३ राजयोग

(ग) समस्या एवं घटना-प्रधान नाटक
  १ सिन्दूर की होली

प्रत्येक नाटक को विशिष्ट वर्ग में अंकित करने के कारणों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

संन्यासी

समस्या-नाटकों के शिल्प की चर्चा करते हुए हमने समस्या-नाटक की तीन विशेषताएँ निश्चित की थी। प्रथम उसमें किसी ज्वलन्त सामयिक समस्या का विवेचन होना चाहिए दूसरे उसमें अतिरंजना भावुकता और रोमांस का बहिष्कार कर यथार्थ को अपनाने का आग्रह हो और तीसरे, उसमें समस्या का बौद्धिक तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन हो। इस निकष के आधार पर 'संन्यासी' को समस्या नाटक की संज्ञा देना सर्वथा संगत है क्योंकि इसमें उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसमें स्वच्छन्द प्रेम की समस्या का आधुनिक युग के संदर्भ में चित्रण किया गया है। समस्या का बौद्धिक तर्क वितर्कपूर्ण विवेचन है और यथार्थ दृष्टि से समस्या पर विचार करने का आग्रह है। अतः इसे सहज ही समस्या-नाटक की कोटि में रखा जा सकता है।

राक्षस का मन्दिर

इस नाटक में मिश्रजी ने अपने अभिव्यंग को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्ति किया है। यद्यपि नाटक में मूर्त पक्ष को भी स्वतन्त्र महत्त्व प्राप्त है परन्तु प्रधानता प्रतीकार्थ से स्पष्ट होने वाले अमूर्त पक्ष की ही है। अदकरी को नारी का प्रतीक मानकर ही नाटक के उद्देश्य से अवगत हुआ जा सकता है। परन्तु फिर भी इसे प्रतीक नाटक की अपेक्षा विचार प्रधान नाटक की श्रेणी में रखना ही

अधिक समीचीन होगा क्योंकि एक तो प्रतीक का प्रयोग सूक्ष्म भावों तक नहीं है दूसरे, प्रतीक की अपेक्षा विचार और प्रेषण का भाव अधिक मुखर है। स्वच्छन्द प्रेम की समस्या के विवेचन के कारण इसमें कतिपय तत्त्व समस्या-नाटक के भी मिलते हैं। परन्तु उसके सांगोपांग तर्कपूर्ण विवेचन के अभाव में इसे समस्या नाटक नहीं कहा जा सकता। इसमें आधुनिक व्यक्तिवादी मानव के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के यथार्थ चित्र दिखाने में ही नाटककार ने कुशलता दिखाई है और इस आधार पर इसे केवल यथार्थवादी नाटक कहना भी असंगत नहीं। परन्तु प्रमुखता विचार प्रेषण की होने के कारण इसे विचार-प्रधान नाटक की श्रेणी में ही अभिहित करना समीचीन समझा गया है।

मुक्ति का रहस्य

इस नाटक का शिल्प-संगठन पूर्ववर्ती नाटकों से सर्वथा भिन्न है। इसमें मिश्रजी का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या का चित्रण नहीं अपितु जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण की व्यंजना है। कथानक पात्र आदि सभी तत्त्वों का विधान इसी दृष्टि से किया गया है कि विचार का अधिकाधिक प्रसार बनाया जा सके। इस कारण कथानक और पात्रों आदि के स्वाभाविक विकास में भी शिथिलता आ गई है। इस नाटक का वातावरण भी बौद्धिक नहीं और न ही तर्क-वितर्क की योजना है। अतः विचार प्रेषणीयता के उद्देश्य से लिए गए नाट्यविधान को विचार प्रधान नाटक की कोटि में रखना ही समीचीन होगा।

राजयोग

राजयोग में 'समस्या-नाटक' एवं 'विचार-प्रधान नाटक' दोनों की विशेष तायों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। 'समस्या-नाटक' की दृष्टि से इसमें बौद्धिकता है, तर्क वितर्कपूर्ण विवेचन है और ज्वलन्त समस्या का चित्रण है। परन्तु सम्पूर्ण नाटक को समग्र रूप से देखने से इसमें विचार-प्रधान नाटक की विशेषताएं ही अधिक व्याप्त दृष्टिगोचर होती हैं। नाटक को समस्या-नाटक की श्रेणी में न रखने का एक कारण यह भी है कि नाटक का कथानक अवास्तविक है और पात्र भी जन-जीवन के मानसिक उद्गारों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। नाटककार का उद्देश्य किसी समस्या का चित्रण करने की अपेक्षा समस्या के प्रति विचार करने के दृष्टिकोण को प्रेषित करना है जिसके लिए उसने एक सामाजिक कथानक की कल्पना कर ली है। अतः इसे भी 'विचार प्रधान नाटक' की श्रेणी में रखना ही समीचीन होगा।

वस्तुतः नाटककार को भी 'राजयोग' और 'मुक्ति का रहस्य'—इन दो

नाटकों को समस्या-नाटक की विधा के अन्तगत रखना अपेक्षित नहीं था इसीलिए उन्होंने इन दो नाटकों के नाम के साथ मुखपृष्ठ पर, शेष नाटकों की तरह 'समस्या-नाटक' नहीं लिखा।

सिन्दूर की होली

इस नाटक में समस्या-नाटक' की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। तीन ज्वलन्त समस्याओं पर तर्कयुक्त बौद्धिक विवेचन है। परन्तु फिर भी यह केवल समस्या-नाटक नहीं क्योंकि नाटक का मूल कथानक मुरारीलाल पर केन्द्रित है और उसी के जीवन की घटनाओं के आधार पर नाटककार ने कर्म प्रतिफल सिद्धान्त की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। वास्तव में नाटक में 'समस्या-नाटक' और 'घटना-प्रधान नाटक' दोनों का सुन्दर सामंजस्य है और नाटककार के उद्देश्य एवं शिल्प-संगठन की दृष्टि से कोई भी पक्ष दुर्बल समझकर विस्मृत नहीं किया जा सकता। दोनों रूपों के समन्वय में भी नाटककार ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। अतः इस नाटक की विधा के लिए एक भिन्न वर्ग की कल्पना करनी पड़ी है—समस्या एवं घटना-प्रधान नाटक।

आधी रात

इस नाटक में समस्या-नाटक की सभी विशेषताएँ—बौद्धिकता तर्क-वितर्क-पूर्ण विवेचन और ज्वलन्त समस्या का चित्रण विद्यमान होने के कारण इसे 'समस्या-नाटक' की विधा के अन्तर्गत रखना ही समीचीन होगा।

तृतीय अध्याय

सामाजिक नाटकों की समीक्षा

१ समस्या-नाटक
   (क) सन्यासी
   (ख) भामी राव

२ विचार प्रधान नाटक
   (क) राक्षस का मन्दिर
   (ख) मुक्ति का रहस्य
   (ग) राजयोग

३ समस्या एवं घटना-प्रधान नाटक
   (क) सिन्दूर की होली

(क) समस्या नाटक

(१) सन्यासी

वस्तुपक्ष

मिश्रजी ने इस नाटक में प्रमुख रूप से चिरन्तन नारीत्व की समस्या का विवेचन किया है। इस मूल समस्या के उद्भावक कारणों का विवेचन करते हुए अनमेल विवाह एवं सहशिक्षा की समस्या का भी प्रासंगिक रूप से विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने देश-स्वातन्त्र्य की समस्या के कतिपय पहलुओं का भी कथानक के माध्यम से विचार किया है।

मूल समस्या—नाटक की मूल समस्या चिरन्तन नारीत्व (यह नाम नाटककार का ही दिया हुआ है) के अन्तर्गत नारी-जीवन के दो पहलुओं—प्रेम-स्वातन्त्र्य और मर्यादित विवाह का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन हुआ है। यह समस्या मानव की एक शाश्वत समस्या है परन्तु मिश्रजी ने इस समस्या का आख्यान भारतीय एवं पाश्चात्य जीवन-दर्शन के द्वन्द्वमय संदर्भ में करते हुए इसकी सामयिक महत्ता को अक्षुण्ण रखा है। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से नवशिक्षित युवक-समाज स्वच्छन्द प्रेम के नवीन विचारों से आकृष्ट हुआ क्योंकि एक तो रूढ़ियों की जटिलता की अपेक्षा स्वच्छन्दता की ओर मन का खिंचना स्वाभाविक ही था दूसरे, स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक हमारे शासक थे जो भौतिक दृष्टि से भी हमसे अधिक सम्पन्न एवं सुखी थे। अतः शिक्षित समाज के सम्मुख एक समस्या उत्पन्न हुई। कौन-सा पथ ग्रहण किया जाय—स्वच्छन्द प्रेम का अथवा मर्यादित विवाह का। ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में पाश्चात्य अनुकरण से प्रभावित सामाजिक विधान का नग्न चित्रण एवं वैज्ञानिक विश्लेषण कर समाज के लिए उपयोगी एवं हितकारी जीवन-दर्शन का उद्घाटन करना सामयिक महत्त्व की ही वस्तु कही जायगी।

विवेचन—इस समस्या के विवेचन के लिए नाटककार ने एक प्रेमी-युगल के जीवन का कारुणिक चित्र उपस्थित किया है। विश्वकान्त और मालती अपने बौद्धिक जीवन में ही स्वच्छन्द प्रेम की ओर अग्रसर होते हैं और प्रेम की रंगीनियों एवं कल्पना-जगत् में विचरण करने लगते हैं। समाज की ओर से एवं

अनमेल विवाह में भी पति-पत्नी के सम्बन्ध इतने बिगड़ जाते हैं कि पत्नी कहती है कि तुम्हें देखकर मुझे अपने पिता की याद आती है और इस प्रकार परिस्थिति बिगड़ते हुए यहाँ तक पहुँच जाती है कि दीनानाथ को कहना पड़ता है "समझना किसी वेटिंग रूम में या होटल में दो आदमी ठहरे हैं कभी-कभी मन बहलाने के लिए यों ही बातें कर लिया करते हैं तुम भी स्वतन्त्र और मैं भी। हम दोनों एक-दूसरे की बेड़ी काट दें।"[1]

यद्यपि नाटक में समस्या के कारणों परिणामों तथा स्वरूप का विश्लेषण किया गया है और उसके लिए पुष्ट तर्कों का भी आश्रय लिया गया है तथापि नाटककार को समस्या के विवेचन में अंशतः ही सफल कहा जा सकता है। इसमें एक बड़ा दोष यह आ गया है कि रोमांटिक प्रेम और आदर्श प्रेम दोनों एक ही दिखाई पड़ते हैं। दोनों ही स्थितियों में प्रेम में इतनी अधिक बाधाएँ दिखाई गई हैं कि पाठक के मन में यह कल्पना ही नहीं आती कि इतनी बाधाओं को जीतकर बढ़ने वाले प्रेमी केवल वासना से प्रेरित होकर प्रेम कर रहे हैं। किरणमयी और मुरलीधर का प्रेम तो स्पष्टतः अध्यात्म प्रेम का रूप धारण कर लेता है। वह मुरलीधर के देहान्त के पश्चात् भी उसे अपने हृदय में बैठा हुआ स्वीकार करती हुई कहती है— 'वह मेरे भीतर है बराबर रहेगा इस जिन्दगी में दूसरी जिन्दगी में, जब कभी जन्म लूँगी तब मिलेगा।" प्रेम का आदर्श स्वरूप समाज द्वारा अनुमोदित न होने पर भी समाज की सहानुभूति का पात्र होता है। इसीलिए पाठक इस प्रेम को नाटक के आरम्भ से अन्त तक सहानुभूतिपूर्वक ही देखता है और अन्त में लेखक के तर्कपूर्ण विश्लेषण उसे अस्वाभाविक से लगते हैं। रोमांटिक प्रेम जिसका विरोध बर्नार्ड शॉ आदि ने किया है, उसकी व्यंजना तो दीनानाथ और किरणमयी के प्रेम में मिलती है। इस प्रेम की तुलना शॉ के 'आर्म्स एण्ड दी मैन' के सरजियस और कैथराईन के प्रेम से की जा सकती है। परन्तु नाटककार को तो इस प्रेम के माध्यम से रोमांटिक प्रेम के आदर्शों का विश्लेषण करते हुए अनमेल विवाह का ही चित्रण अभिप्रेत है। रोमांटिक प्रेम की आदर्शपरायण व्याख्या के दोष के कारण यह कहना ही अधिक समीचीन है कि समस्या के विवेचन में नाटककार अंशतः ही सफल है।

अन्य समस्याएँ—इस मूल समस्या के अतिरिक्त कतिपय अन्य समस्याएँ भी प्रासंगिक रूप से व्यंजित हो गई हैं। इनमें प्रमुख है देश-स्वातन्त्र्य की समस्या। एशियाई संघ की स्थापना पत्रकारिता के माध्यम से देशभक्ति का

---

१ आधी, पृ० ११९

(ख) समस्या नाटक

(१) सन्यासी

वस्तुपक्ष

मिश्रजी ने इस नाटक में प्रमुख रूप से चिरन्तन नारीत्व की समस्या का विवेचन किया है। इस मूल समस्या से उद्भावक कारणों का विवेचन करते हुए अनमेल विवाह एवं सहशिक्षा की समस्या का भी प्रासंगिक रूप से विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने देश-स्वातन्त्र्य की समस्या के कतिपय पहलुओं का भी कथानक के माध्यम से विचार किया है।

मूल समस्या—नाटक की मूल समस्या चिरन्तन नारीत्व (यह नाम नाटककार का ही दिया हुआ है) के अन्तर्गत नारी-जीवन के दो पहलुओं—प्रेम-स्वातन्त्र्य और मर्यादित विवाह का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन हुआ है। यह समस्या मानव की एक शाश्वत समस्या है परन्तु मिश्रजी ने इस समस्या का आख्यान भारतीय एवं पाश्चात्य जीवन-दर्शन के द्वन्द्वमय संदर्भ में करते हुए इसकी सामयिक महत्ता को अक्षुण्ण रखा है। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से नवशिक्षित युवक-समाज स्वच्छन्द प्रेम के नवीन विचारों से आकृष्ट हुआ क्योंकि एक तो रूढ़ियों की जटिलता की अपेक्षा स्वच्छन्दता की ओर मन का फिसलना स्वाभाविक ही था दूसरे, स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक हमारे शासक थे जो भौतिक दृष्टि से भी हमसे अधिक सम्पन्न एवं सुखी थे। अतः शिक्षित समाज के सम्मुख एक समस्या उत्पन्न हुई। कौन-सा पथ ग्रहण किया जाय—स्वच्छन्द प्रेम का अथवा मर्यादित विवाह का। ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में पाश्चात्य अनुकरण से प्रभावित सामाजिक विधान का नग्न चित्रण एवं यथार्थ विश्लेषण कर समाज के लिए उपयोगी एवं हितकर जीवन-दर्शन का उद्घाटन करना सामयिक महत्त्व की ही वस्तु कही जायगी।

विवेचन—इस समस्या के विवेचन के लिए नाटककार ने एक प्रेमी-युगल के जीवन का काल्पनिक चित्र उपस्थित किया है। विश्वकान्त और मालती अपने शैक्षिक जीवन में ही स्वच्छन्द प्रेम की ओर अग्रसर होते हैं और प्रेम की रंगीनियों एवं कल्पना-जगत् में विचरण करने लगते हैं। समाज की ओर से एवं

विश्वकान्त के प्रतिद्वन्द्वी की ओर से कई बाधाएं आती हैं परन्तु वे उन्हें प्रसन्नता से सह लेते हैं। परन्तु वे विवाह के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करना चाहते। विश्वकान्त पर मालती के पिता की ओर से एवं उसके अपने गुरु-तुल्य श्रद्धेय मुरलीधर की ओर से भी दबाव डाला जाता है परन्तु वह देश-सेवा की इच्छा को सम्मुख रखकर विवाह से इनकार कर देता है। देश-सेवा के लिए वह विदेश जाता है। परन्तु जब वह *अपनी प्रेमिका मालती का विवाह दूसरे के साथ* निश्चित हुआ सुनता है तो उद्विग्न हो जाता है। उसके प्रेम की आदर्श भावना उसे ठोकर मारती है और वह एक निर्मम उत्तर लिख भेजता है जिससे मालती के भोले और निरपराध मन को ठेस पहुँचती है और वह विश्वकान्त से बदला लेने के लिए उसके प्रतिद्वन्द्वी रमाशंकर से विवाह कर लेती है। इस समाचार को पाकर विश्वकान्त असन्तुलित हो जाता है और देश हित के लिए किए गए सफल संगठन पर भी लात मारने का निश्चय कर लेता है। इस प्रकार रोमांटिक प्रेम के कारण दोनों का जीवन कितना त्रासदिक बन गया यही दिखाना नाटककार को अभीष्ट है।

मालती इस सारे प्रेम-व्यापार का अन्त में बौद्धिक विश्लेषण करती है जो सारी समस्या का तर्कमय चित्र बन जाता है। समस्या-नाटक की सफलता वास्तव में इन गहरे विचारपूर्ण एवं युक्तियुक्त तर्कों में ही है।

मालती प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करती हुई कहती है, "मैं रोमांटिक प्रेम नहीं चाहती विश्वकान्त के साथ मेरा यही था। मैं वह प्रेम चाहती हूँ जो आज कल की दुनिया में समझदारी के साथ निभाया जा सके।"[1] रोमांटिक प्रेम की परिभाषा करती हुई वह कहती है जिसे प्रेम करे उसके सामने झुक जाना—बिल्कुल मर जाना—उसकी एक-एक बात पर अपने को न्यौछावर कर देना रोमांटिक प्रेम होता है।"[2] तुमने मुझे प्रेम किया था और मैंने भी तुम्हें प्रेम किया था। तुम्हारा वह कोमल शरीर नशीली आँखें तुम्हारे हृदय की बिजली तुम्हारा वह सब जो मुझे पागल बना देता था। मुझे रात भर नींद नहीं आती थी" मैं सोचा करती थी मैं मरने लगती और तुम अन्त समय आकर मुझे अपनी गोद में उठा लेते वह मरना कितना सुखमय होता।"[3] परन्तु इस प्रेम का आधार कितना क्षणिक होता है इसकी चर्चा करती हुई वह बताती है कि हम लोगों के

---

१ आधी रात पृ. १६६
२ वही, पृ. १६७
३ वही पृ. १७१

प्रेम का आधार वासना एवं जवानी के उपभोग की इच्छा मात्र थी। इस प्रेम को वह पाप बताती है "जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता यह प्रकृति की बात है। इसे इसी रूप में छोड़ देना चाहिए जब जरूरत पड़े तब पर रात-दिन उसी की चिन्ता में पड़े रहना और इसे प्रेम का नाम देना यही पाप है।"[1]

मिश्रजी ने समस्या के अन्य पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए एक अन्य प्रेमी युगल का चित्र भी उपस्थित किया है। किरणमयी और मुरलीधर भी युवावस्था में परस्पर प्रेम करते थे परन्तु सामाजिक परिस्थितियों के कारण किरणमयी का विवाह अन्यत्र हो गया जिससे विवाह के पश्चात् किरणमयी अपने वैवाहिक जीवन में सफल न हो सकी (यद्यपि इसके अन्य कारण भी हैं) और मुरलीधर के दमनचक्र में बन्दी हो जाने पर और जेल में उसकी मृत्यु हो जाने पर वही बेहोश हो जाती है। वह समाज की मर्यादाओं को छोड़कर भी अपने प्रेम को अक्षुण्ण रखती रही। इस प्रकार उसके असन्तुलित जीवन का कारुणिक चित्र दिखाकर नाटककार ने रोमांटिक प्रेम की नीरसता का चित्र उपस्थित किया है।

इसके अतिरिक्त मालती के जीवन की झाँकी का चित्रण कर यह भी व्यक्त किया गया है कि समाज द्वारा अननुमोदित रोमांटिक प्रेम में यदि यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाय तो उसके फल—अवैध सन्तान को—कितना नारकीय एवं आत्मघृणित जीवनयापन करना पड़ता है।

स्वच्छन्द प्रेम की उद्भावना के लिए उत्तरदायी वातावरण के चित्रण में नाटककार ने दो अन्य समस्याओं का भी चित्रण किया है। ये समस्याएँ हैं—सहशिक्षा तथा अनमेल विवाह। इन दोनों समस्याओं को स्वतन्त्र रूप से नहीं उठाया गया। इनके पक्ष-विपक्ष में बौद्धिक विश्लेषण भी नहीं किया गया है। इनका महत्त्व तो स्वच्छन्द प्रेम के आविर्भाव के कारण स्पष्ट करने में है। मालती और विश्वकान्त का प्रेम सहशिक्षा के कुरुचिपूर्ण वातावरण में हुआ और किरणमयी तथा मुरलीधर का प्रेम किरणमयी और दीनानाथ के अनमेल विवाह के कारण असफल हुआ। सहशिक्षा के वातावरण का तर्कपूर्ण विवेचन छात्रों के वार्तालाप में कराया गया। एक छात्र मीमांसा करता हुआ कहता है, "दर्जे में जिस ओर परियाँ बैठीं लड़के बैठेंगे ही" "सुनो युवती की ओर जब युवक देखता है वहाँ कोई दिमागी नहीं होती बस वही भगवान पचबाण।"[2] इसी प्रकार

१ संन्यासी पृ० १८०
२ वही, पृ ८०

अनमेल विवाह में भी पति-पत्नी के सम्बन्ध इतने बिगड़ जाते हैं कि पत्नी कहती है कि तुम्हें देखकर मुझे अपने पिता की याद आती है और इस प्रकार परिस्थिति बिगड़ते हुए यहाँ तक पहुँच जाती है कि दीनानाथ को कहना पड़ता है 'समझना किसी वेटिंग रूम में या होटल में दो आदमी ठहरे हैं कभी-कभी मन बह लाने के लिए यों ही बातें कर लिया करते हैं तुम भी स्वतन्त्र और मैं भी। हम दोनों एक-दूसरे की बेड़ी काट दें।"[1]

यद्यपि नाटक में समस्या के कारणों परिणामों तथा स्वरूप का विश्लेषण किया गया है और उसके लिए पुष्ट तर्कों का भी आश्रय लिया गया है तथापि नाटककार को समस्या के विवेचन में अंशतः ही सफल कहा जा सकता है। इसमें एक बड़ा दोष यह आ गया है कि रोमांटिक प्रेम और आदर्श प्रेम दोनों एक ही दिखाई पड़ते हैं। दोनों ही स्थितियों में प्रेम में इतनी अधिक बाधाएँ दिखाई गई हैं कि पाठक के मन में यह कल्पना ही नहीं आती कि इतनी बाधाओं को जीतकर बढ़ने वाले प्रेमी केवल वासना से प्रेरित होकर प्रेम कर रहे हैं। किरणमयी और मुरलीधर का प्रेम तो स्पष्टतः अध्यात्म प्रेम का रूप धारण कर लेता है। वह मुरलीधर के देहान्त के पश्चात् भी उसे अपने हृदय में बैठा हुआ स्वीकार करती हुई कहती है—"वह मेरे भीतर है बराबर रहेगा इस जिन्दगी में दूसरी जिन्दगी में जब कभी जन्म लूँगी तब मिलेगा। प्रेम का आदर्श स्वरूप समाज द्वारा अनुमोदित न होने पर भी समाज की सहानुभूति का पात्र होता है। इसीलिए पाठक इस प्रेम को नाटक के आरम्भ से अन्त तक सहानुभूतिपूर्वक ही देखता है और अन्त में लेखक के तर्कपूर्ण विश्लेषण उसे अस्वाभाविक से लगते हैं। रोमांटिक प्रेम जिसका विरोध बर्नार्ड शॉ आदि ने किया है उसकी व्यंजना तो दीनानाथ और किरणमयी के प्रेम में मिलती है। इस प्रेम की तुलना शॉ के 'आर्म्स एण्ड दी मैन' के सरजियस और कैथराईन के प्रेम से की जा सकती है। परन्तु नाटककार को तो इस प्रेम के माध्यम से रोमांटिक प्रेम के कारणों का विश्लेषण करते हुए अनमेल विवाह का ही चित्रण अभिप्रेत है। रोमांटिक प्रेम की आदर्शपरायण व्याख्या के दोष के कारण यह कहना ही अधिक समीचीन है कि समस्या के विवेचन में नाटककार अंशतः ही सफल है।

अन्य समस्याएँ—इस मूल समस्या के अतिरिक्त कतिपय अन्य समस्याएँ भी प्रासंगिक रूप से व्यञ्जित हो गई हैं। उनमें प्रमुख है देश-स्वातन्त्र्य की समस्या। एशियाई संघ की स्थापना पत्रकारिता के माध्यम से देशभक्ति का

---

१ स्वाधी, पृ० ११९

कुमार और डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट द्वारा मेम्बरों के मामास के विरोध में त्यागपत्र देने का संकल्प आदि प्रसंगों के माध्यम से नाटक में स्वदेश-हित का विचार किया गया है। परन्तु इस समस्या का सांगोपांग तर्कपूर्ण विवेचन न होने के कारण इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

कथानक एवं पात्र

नाटककार ने अपने कथानक का विषय एक ऐसे सीमित वर्ग को बनाया है जो पाश्चात्य संस्कृति के वातावरण से इतना अधिक प्रभावित है कि भारतीय संस्कृति के परम्परागत साधारण संस्कार भी उनमें नहीं हैं। अपनी समस्याओं को स्वार्थ एवं उपयोगितावाद की दृष्टि से सोचते हुए कहीं भी उनके मन में भारतीय परम्परागत दृष्टिकोण को लेकर द्वन्द्व नहीं होता। जनजीवन की परम्पराओं को पूर्णतया अपने मन से निर्वासित कर देने वाला वर्ग जनजीवन से दूर ही कहा जायगा। पात्रों में विश्वकान्त और मुरलीधर देश-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा से परिचालित हैं परन्तु जैसा कि विवेचन किया जा चुका है वे नाटक में केवल प्रसंग मात्र हैं और इससे मूल समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विश्वकान्त देश-सेवा के उच्च आदर्श को लेकर भी दुर्बल मन का है।

वस्तुतः प्रेम जैसी सूक्ष्म एवं मानसिक समस्या के दार्शनिक पक्ष के बौद्धिक विवेचन के लिए यह उपयुक्त ही था कि नाटककार सम्पन्न एवं शिक्षित वर्ग के कथानक को आधार बनाए, परन्तु उनमें अति आधुनिकता का समावेश हो जाने के कारण समस्याएँ जन-जीवन से दूर हो गई हैं।

शिल्पपक्ष

विधा—जैसा कि वस्तुपक्ष में विवेचन किया जा चुका है नाटक का उद्देश्य एक सामाजिक समस्या का बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा उद्घाटन ही है अतः इसे समस्या-नाटकों की श्रेणी में ही रखना समीचीन है। और शिल्प-दृष्टि से विचार करते हुए समस्या-नाटक के शिल्प को ही निकष मानना चाहिए।

कथानक-विन्यास

समस्या-नाटक में कथानक का महत्त्व समस्या के प्रस्तुत करने एवं उसके तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने में है। इस दृष्टि से कथानक का नियोजन सफल है। नाटककार ने समस्या के कारणों एवं परिणामों को दिखाते हुए अन्त में सारे कथानक की बौद्धिक मीमांसा भी मालती द्वारा करवा दी है। पहले अंक में समस्या के आविर्भाव के कारणों का चित्र स्पष्ट हो जाता है। मुरलीधर और किरणमयी तथा मालती और विश्व-

कान्त के प्रेम के स्वरूप में बाधाएँ हैं और उनका निराकरण है। दूसरे अंक में उनका प्रेम उलझता है, विवाह या प्रेम यह स्थिति स्पष्ट होती है। तीसरे अंक में प्रेम को हृदय में सँजोए विश्वकान्त देश-सेवा करते हुए प्रमिला के विवाह से उद्विग्न होकर उसे विनय पत्र लिखता है और अन्तिम अंक में मालती का चरित्र परिवर्तन होता है और वह सारी समस्या का विश्लेषण बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा करती है। इस प्रकार कथानक का विन्यास समस्या-नाटक के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया गया है।

परन्तु इस विन्यास के बावजूद कथानक को कलात्मक दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। इसके कतिपय दोष विचारणीय हैं।

सबसे प्रथम साधारण नाटक में एक प्रमुख कार्य की तरह समस्या-नाटक में प्रमुख रूप से एक समस्या होनी चाहिए। जिससे उसके विवेचन में सूक्ष्मता एवं सरसता हो और प्रभाव में भी अन्विति का निर्वाह किया जा सके। सन्यासी नाटक में सहशिक्षा एवं अन्तर्जातीय विवाह की समस्याओं का अन्तर्भाव मूल समस्या के अन्तर्गत कर भी लें तो भी देश-स्वातन्त्र्य की समस्या को जोड़ना तो किसी भी दृष्टि से तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म दार्शनिक समस्याओं के साथ इस स्थूल भौतिक समस्या का मेल किसी तरह भी बैठाया नहीं जा सकता। समस्याओं के इस अनमिल ग्रंथन को लक्ष्य करके डा० नगेन्द्र लिखते हैं 'जीवन की सूक्ष्म समस्याओं के साथ यह समस्याएँ बड़े अनमिल ढंग से गुँथी हुई हैं। रेशम के धागे में यह मोटे-मोटे खद्दर के धागे गूँथकर प्रभाव-ऐक्य में व्याघात उत्पन्न करते हैं और नाटक की यूनिटी भ्रष्ट हो जाती है। समस्याओं के बग दल का यह वैषम्य मिश्रजी के नाटकों की सबसे बड़ी त्रुटि है।'[1]

नाटक में मूल समस्या के अन्तर्गत लिए जाने वाले कथानक में कहीं-कहीं उसके अंगों को अधिक विस्तार मिल गया है जिससे पाठक का ध्यान मूल समस्या पर केन्द्रित न रह कर गौण समस्याओं पर चला जाता है। जैसे सहशिक्षा तथा अन्तर्जातीय विवाह मूल समस्या के कारण मात्र हैं परन्तु इनके विस्तृत विवेचन को देखकर पाठक मूल समस्या की अपेक्षा इन्हीं से अधिक अभिभूत हो जाता है। ये समस्याएँ इस प्रकार सहायक होने की अपेक्षा मूल समस्या के लिए उचित भूमि बनने देने में बाधक होती हैं।

कथानक का पूर्व भाग जिसका प्रयोजन दोनों प्रणयी-युग्मों का वास्तविक चित्र दिखाना मात्र है आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है जिसके प्रमुख

---

१ आधुनिक हिंदी नाटक डा० नगेन्द्र, पृ० ५२

रूप से तीन कारण हैं—

(क) प्रासंगिक एवं गौण समस्याओं को अधिक विस्तार देना।

(ख) यथार्थ के मोह के कारण भी कथानक विस्तृत हुआ है नाटककार ने प्रत्येक घटना के कारणों को देकर इसे स्वाभाविक बनाते-बनाते कई घटनाओं को अनावश्यक विस्तार दे दिया है। एक उदाहरण लीजिए। नाटककार को किरणमयी और मुरलीधर के करुण चित्र को पूर्णता देने के लिए मुरलीधर की मृत्यु दिखानी आवश्यक थी। अतः मृत्यु के प्रसंग की स्वाभाविकता को बनाए रखने के लिए सरकार की असावधानी दिखाई गई और फिर डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को मंच पर लाकर सरकार के विरुद्ध त्यागपत्र भी दिलवाया गया। इस प्रकार इतने लम्बे प्रसंग से जिस भावुक एवं विद्रोही चरित्र की सृष्टि हुई है यह स्वाभाविकता दिखाने के लिए कितना ही युक्तियुक्त क्यों न हो मूल कथानक के प्रभाव के लिए सर्वथा असंगत है। इतना अधिक विस्तृत चित्रण उपन्यासकार के लिए तो सम्भव है नाटककार के लिए नहीं। इस प्रकार कथानक को जहाँ-तहाँ एक दिशा में खींच देने के कई उदाहरण मिलते हैं।

(ग) तीसरा कारण है चरित्र की स्वाभाविकता का निर्वाह। इसके कारण भी कथानक अधिक लम्बा हो गया है। चरित्रों की स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए ऐसी घटनाओं की योजना की गई है जो मूल नाटक से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखती। वस्तुतः प्रत्येक घटना में यह गुण होता है कि वह चरित्र को भी चित्रित करती है और कथानक को भी गति देती है, परन्तु इसमें चरित्रगत विशेषताएँ बताने के लिए घटनाओं की जो योजना की गई है उसका कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे दीनानाथ-जैसे गौण पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए श्रीपति के साथ उसका अप्रासंगिक विषयों पर वार्तालाप करवाना। ये सब घटनाएँ कथानक के शिथिल संगठन की परिचायक हैं।

नाटक में दृश्य एवं सूच्य के विभाजन की योजना भी इस नाटक में ठीक नहीं हुई। लगभग सभी घटनाओं को दृश्य रूप में दिखाया गया है जिससे सारे कथानक में एक तीव्रता आ गई है। एक के पश्चात् दूसरी घटना द्रुत गति से घटती चली जा रही है जिसके कारण विषय के अनुरूप गम्भीरता नहीं आ पाती। मालती के पिता और विमलकान्त के पिता के चल जाने के पश्चात् मालती और विमलकान्त पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई उनकी भावनाएँ किस दिशा की ओर उन्मुख हुईं इस सारे का विचार न कर नाटककार इन दोनों को ही जल्दी से अलग कर देता है। इसी तरह अन्य दृश्य भी छोटे एवं अपूर्ण हैं।

इन दोषों के होते हुए भी मिश्रजी की नैसर्गिक प्रतिभा का आभास कथानक

में कई स्थानों पर होता है। उनमें सुन्दर नाटकीय स्थितियों के नियोजन की अपूर्व शक्ति है यद्यपि प्रारम्भिक रचना होने के कारण उसका सुन्दर निर्वाह नहीं हो पाया। मालती को विश्वकान्त की चारपाई पर छिपाकर दोनों के पिताओं को दोनों के विवाह की बातचीत के लिए वहीं ले आना नाटकीय दृष्टि से एक सुन्दर स्थिति कही जा सकती है। इसी प्रकार विश्वकान्त के प्रणय-पत्रों को रमाकान्त के पास पहुँचाना मुरलीधर की टोपी छिपवाकर विश्वकान्त के हाथ में दे देना आदि।

चरित्र-चित्रण

नाटककार ने इस नाटक में विभिन्न श्रेणियों के चरित्रों की सृष्टि की है कुछ चरित्र आदर्श हैं जैसे मुरलीधर किरनमयी आदि। कुछ चरित्र हीन-वृत्ति के हैं जैसे रमाकान्त दीनानाथ आदि। विश्वकान्त का चरित्र दोहरा चरित्र है एक ओर उसके पास कोमलतम हृदय है दूसरी ओर कठोरतम संकल्प। जब वह संकल्प करता है तो बड़े-बड़े कष्टों को सहर्ष स्वीकार कर लेता है और दूसरी ओर जब उसके हृदय पर ठेस पहुँचती है तो वह किसी प्रकार के उत्तरदायित्व को सँभालने में असमर्थ हो जाता है।

नाटककार ने सभी चरित्रों को मानवीय संवेदनाओं से युक्त दिखाया है जिससे कि चरित्र केवल कल्पना की वस्तु न बन जाएँ। मुरलीधर ने देवत्व के आदर्श में जीवन की आहुति भले ही दी है परन्तु अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा उसकी स्थिति मानव भूमि पर ही दिखाई गई है।

केवल मालती के चरित्र को छोड़कर शेष सभी चरित्र स्थिर हैं। मालती के विचारों में परिवर्तन आता है परन्तु जब जब विरोधी उपकरण उसके जीवन की राह रोक कर खड़े हो जाते हैं। वह अपने प्रेमी की निष्ठुरता एवं भ्रम को सहन नहीं कर सकती और समर्पण तथा त्याग की वह मूर्ति भैरवी बन जाती है। इस परिवर्तन में समय कम से भले ही अस्वाभाविकता दिखाई दे परन्तु मालती के चरित्र की दृष्टि से यह सर्वथा स्वाभाविक है। क्रान्ति करना उसके लिए अनिवार्य सा हो जाता है।

नाटककार ने हीन-वृत्ति के पात्रों का भी चित्रण सहानुभूतिपूर्वक किया है। दीनानाथ और रमाशंकर हीन-वृत्ति के पात्र हैं जो शिक्षित होते हुए भी संस्कार हीन हैं। परन्तु समस्या-नाटककार मानता है कि कोई भी पात्र व्यक्तिगत रूप से अच्छा या बुरा नहीं सामाजिक संस्कार ही उसकी भलाई या बुराई के लिए उत्तरदायी हैं। इसीलिए वह प्रत्येक पात्र की स्थिति को सहानुभूतिपूर्वक प्रदर्शित करता है। दीनानाथ की शोचनीय परिस्थिति एवं उसकी विवशता का चित्रण

नाटककार ने सुन्दर ढंग से किया है। वह पत्नी को अपने अधिकार से बाहर देखते हुए भी समाज-निन्दा के भय से कुछ नहीं कर सकता।

चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए नाटककार ने स्वगत के स्थान पर मूक अभिनय का आश्रय लिया है। उसने मन की गतिविधियों उद्वेगों एवं भावों को स्पष्ट करने के लिए पात्रों के संवादों की अपेक्षा उनकी क्रियाओं का अधिक चित्रण किया है। जैसे (क) मालती का विश्वकान्त के चित्र से अपना मुँह ढक लेना। (ख) रमाकान्त का विश्वकान्त और मालती को दूर तक देखते रहना, (ग) मुरलधी और मालती का परस्पर मौन संभाषण आदि। ये क्रियाएँ रंगमंच पर अभिनीत होने पर तो प्रेक्षक को अनुभूति प्रदान कर सकती हैं किन्तु पाठ्यरूप में इन भावों को पूर्णतः ग्रहण नहीं किया जा सकता।

अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए नाटककार ने कई घटनाओं की भी योजना की है। ये घटनाएँ कथानक की दृष्टि से यद्यपि असम्बद्ध हों परन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने में सफल हैं। विश्वकान्त की मानसिक स्थिति को दिखाने के लिए नाटककार ने नार्वीर के प्रति क्रुद्ध व्यवहार की योजना की है।

संवाद

संवाद का प्रथम गुण है कि वह कथानक को गति दे। जो संवाद कथानक की गति में बाधा पहुँचाए उसे नाटक की दृष्टि से अनावश्यक ही कहा जायगा। यद्यपि इस दृष्टि से यह नाटक सफल ही कहा जायगा तथापि प्रारम्भिक कृति होने के कारण यह दोषमुक्त नहीं। चार अफ़ग़ानियों महमद और विश्वकान्त की बातचीत का अधिकांश अंश कथानक को कोई योग नहीं देता।

संवाद का दूसरा गुण है चरित्रों को स्पष्ट करना। इस दृष्टि से भी यह नाटक अंशतः सफल है। प्रारम्भिक नाटक होने के कारण इसमें प्रौढ़ता नहीं आई है।

इन दो दृष्टियों से संवाद का उपयोग करते हुए भी नाटककार उसमें स्वाभाविकता का निर्वाह करता है ताकि वह उचित वातावरण की सृष्टि में योग दे सके। यह स्वाभाविकता संवाद की भाषा एवं गति को विषयानुरूप एवं पात्रानुरूप बनाने से ही सम्भव है। इस नाटक में विषय भाव प्रधान भी है और तर्क प्रधान भी। भाव प्रधान विषयों में भाषा सरल है उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग भी नहीं। उसमें भावनाओं को स्पर्श करने की शक्ति पूर्ण वाक्यों के स्थान पर अर्द्धोक्तियों के प्रयोग से लाई गई है। प्रौढ़ पति की उद्दाम वासना से युक्त हर समय की छेड़-छाड़ से उत्पन्न किरणमयी की ग्लानि एवं रोष की

भावना को नाटककार कितने सीधे सरल और टूटे-फूटे वाक्यों द्वारा व्यक्त करता है—

"किरणमयी—(कुछ ऊँचे स्वर में) हँसो जोर से हँसो। तुम्हें हँसी आ रही है और मुझे? अब नहीं तब तुम कितने कोई भी समय हो' रात हो या दिन हो। बराबर मद में। सवेरे उठती हूँ तो बड़ी देर तक पैर सीधे नहीं पड़ते तुम्हें देखती हूँ तो काँप जाती हूँ।"[1]

तर्क-प्रधान संवाद यद्यपि कुछ लम्बे हो गए हैं परन्तु उनमें तर्क की शृंखला के कारण प्रवाह है। वाक्यों के टूटे हुए विन्यास के द्वारा उसे भावात्मक रूप दे दिया गया है। इसीलिए लम्बे संवाद भी नाटक में खटकते नहीं।

वातावरण में सर्वत्र विषयानुरूप गम्भीरता नहीं है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक प्रारम्भिक कृति होने के कारण वस्तु एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से संयत ही सफल है। परन्तु फिर भी हिन्दी-नाट्यसाहित्य का प्रथम समस्या-नाटक होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है।

---

१ संन्यासी पृ० ४५

(२) आधी रात

वस्तुपक्ष

मिश्रजी ने इस नाटक में दो समस्याओं को तर्कयुक्त विवेचन का विषय बनाया है। प्रथम है चिरन्तन नारीत्व का आदर्श और दूसरी है साहित्यकार का समाज के प्रति उत्तरदायित्व। दोनों ही शाश्वत समस्याएँ हैं परन्तु मिश्रजी ने अपने अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक में भी इनका विवेचन भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों के द्वन्द्वमय संदर्भ में किया है जिसके कारण इन समस्याओं का सामयिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है।

प्रथम समस्या है चिरन्तन नारीत्व। इसके अन्तर्गत नारी-स्वातन्त्र्य और मर्यादित विवाह का तुलनात्मक चित्रण है। समस्या के विवेचन के लिए नाटककार ने पाश्चात्य संस्कारों में पली हुई एक शिक्षित भारतीय नारी के चरित्र को आधार बनाया है। नारी-स्वातन्त्र्य के मोह में उसने दो प्रेमियों को प्रेम किया परन्तु प्रतिद्वन्द्विता के कारण एक ने दूसरे को गोली मार दी। इस प्रकार एक मारा गया और दूसरे को काले पानी की सजा हुई। इस घटना से प्रेमिका—मायावती के हृदय को ठेस लगी और उसका हृदय नारी-स्वातन्त्र्य एवं स्वच्छन्द प्रेम के मोह को त्याग कर मर्यादित एवं एकनिष्ठ समर्पण के लिए व्याकुल हो उठा। उसने अपनी विकृति के पश्चात्ताप के लिए सेवा एवं समर्पणपूर्ण विवाह किया। वह दोनों स्थितियों का तर्कपूर्ण विश्लेषण करती हुई कहती है 'रक्त की उत्तेजना जवानी की वासना और उन्माद को अंग्रेजी पढ़ी सभी लड़कियों की तरह मैंने भी नारी-स्वातन्त्र्य और नारी-समस्या कहकर दुनिया का हित देना चाहा था'[1]

यूरोप के नारी-सुधार आन्दोलन में जिन स्त्रियों ने भाग लिया था, उन्हें मैं देवी समझती थी। लेकिन क्या सभी कहीं आत्मवञ्चना और दम्भ स्वतन्त्रता के नाम पर वासना की अभिवृत्ति नहीं थी।'[2] वह पाश्चात्य स्वच्छन्द प्रेम पर आधृत विवाह और भारतीय विवाह की तुलना करती हुई कहती है—"इस देश में विवाह का जो आदर्श है—स्त्री पुरुष का दो जीवन और दो

१ आधी रात पृ ७५
२ आधी रात पृ० ७४

आत्माओं का मिलकर एक हो जाना—उनकी व्यक्तिगत भिन्नता का नाश और एक सम्मिलित व्यक्तित्व का उदय इसका अवसर मुझे नहीं मिला। मेरा विवाह तो अंग्रेजी ढंग से हुआ था जिसमें सन्देह है, डाह और भ्रम है, पुरुष के प्रति प्रतिहिंसा है। जिसके मूल में यह भावना है कि बच्चे न पैदा हों किसी तरह का बन्धन न हो।[1]

इस तुलनात्मक विवेचन के अतिरिक्त नाटककार ने इस समस्या के गहरे विवेचन के लिए नारी की शक्ति की चर्चा करते हुए व्यंजना से नारी के आदर्श की ओर संकेत किया है। मायावती नारीत्व के आदर्श को पाने के लिए एक कुण्ठित व्यक्ति प्रकाशचन्द्र से जो अपनी गंवार एवं अपढ़ पत्नी से असन्तुष्ट हो उसे छोड़ चुका है विवाह कर लेती है। और अपने आध्यात्मिक प्रेम के प्रयोग द्वारा उसके उद्धार का निश्चय करती है। वह पाँच वर्ष तक पति-पत्नी रूप में रहते हुए भी इतनी सावधानी और संयम से काम लेती है कि प्रकाशचन्द्र एक बार भी वासना से उद्वेलित नहीं होता। इस प्रकार प्रकाशचन्द्र के उद्दाम वासना के दिन बीत जाते हैं और मायावती के शब्दों में उसमें एक महान् परिवर्तन आ जाता है, वह कहती है 'अगर तुम सोचो तो पहले से बुरे नहीं हुए, जो थे अब भी हो या कुछ अंशों में उससे भी महान् हो गए हो। खतरे के दिन निकल गए। अगर चाहो पूर्ण पुरुष पूर्ण योगी हो सकते हो। प्रकृति के उन्माद का एक आना—मृत्यु का रुक जाना है।'[2] इस प्रकार नाटककार यह सिद्ध करता है कि पुरुष की रक्षा पुरुष के नहीं स्त्री के आधीन है।[3] "जहाँ कहीं भी पुरुषत्व का पतन होगा उसकी जिम्मेदारी किसी न किसी रूप में स्त्री पर होगी।"[4] इसके साथ ही वह यह सिद्ध करता है कि यह शक्ति केवल स्त्री के ही पास है पुरुष के पास नहीं। वह स्पष्ट कहता है, 'पुरुष की सावधानी विद्रोह करती है लेकिन स्त्री की सावधानी उस बन्धन को जिसमें विश्व की दो भिन्न समस्याएँ, दो भिन्न विधान जिनकी सृष्टि एक दूसरे के विरोधी उपकरणों से होती है मिलकर एक हो जाते हैं और भी दृढ़ करती है। सावधानी स्त्री के लिए है पुरुष के लिए नहीं।'[5] इस प्रकार नारी की शक्ति का विवेचन कर नाटककार विरक्त नारीत्व के विकास

---

१ आधी रात पृ० १०
२ वही ,, ६४
३ वही पृ० ६२
४ वही, पृ० ६३
५ वही, पृ० ६७

एवं आदर्श की कल्पना समाज के सम्मुख रखता है।

इस नाटक में समस्या के विवेचन की आधार भूमि अवश्य गहरी है तर्क भी पुष्ट है परन्तु फिर भी नाटककार विचार-प्रेषण में पूर्णतः सफल नहीं कहा जा सकता। नाटक का कथानक एक ऐसे आदर्श की सीमा को स्पर्श कर रहा है जिसकी कल्पना मानव मन को सहज ही नहीं होती। पांच वर्ष तक पति-पत्नी का साथ रहते हुए अध्यात्म प्रेम का प्रयोग करना एक कल्पना-साध्य भावना है। पाठक इस चित्र को हृदयंगम नहीं कर पाता। अतः नाटककार अंशतः ही सफल कहा जायगा।

दूसरी समस्या है साहित्य के सृजन में कवि का दायित्व। नाटककार का कथन है कि कवि अपनी व्यक्तिगत सीमाओं को लाँघकर जब समष्टि की समस्या को आत्मसात कर लेता है तभी वह सच्चे साहित्य का सृजन कर सकता है। अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं के फलस्वरूप किया गया सृजन वैयक्तिक अनुभूति की प्रबलता के कारण सौन्दर्यपरक भले ही हो, परन्तु समाज के लिए उसका क्या उपयोग। उससे नशे में झूमने वाले और केवल सुख-सौन्दर्य के इच्छुक लोगों की ही तृप्ति हो सकेगी।

इस समस्या के विवेचन के लिए नाटककार ने एक कल्पना की रंगीनियों में स्वप्न लेने वाले भावुक कवि को आधार बनाया है जो अपनी गँवार एवं अपढ़ पत्नी से असन्तुष्ट हो एक सुन्दर युवती के आकर्षण में फँस गया। संयोग ऐसा हुआ कि वहाँ भी उस नारी के साथ विवाह करने पर भी उसके अध्यात्म प्रेम के प्रयोग के कारण उसे निर्वासित सा रहना पड़ा। अतः उसने उस सौन्दर्य से प्रेरणा ले अपनी कुण्ठा की अभिव्यक्ति कविता में की जिसमें वह सौन्दर्यपरक रचनाओं के कारण सफल भी हुआ परन्तु अन्त में आत्मनिरीक्षण करने पर उसने स्वीकार किया 'वास्तव में न तो कोई मेरा बड़ा उद्देश्य है और न मैं अपने प्रति ही ईमानदार हूँ।'[१] इसके अतिरिक्त नाटककार ने उसे प्रेत का शिकार बनाकर भी यह सिद्ध किया है कि वह मानसिक दुर्बलताओं से युक्त है। इस प्रकार आत्म-प्रधान सौन्दर्यपरक साहित्य के रचयिता की मनोभूमि का तर्कपूर्ण विवेचन कर नाटककार यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि व्यक्तिगत कुण्ठाओं से उत्पन्न साहित्य समाज में बुराइयों को बढ़ावा देता है। नाटक के अन्त में प्रकाशचन्द्र कहता है 'मैं अनुभव कर रहा हूँ मैंने जो कुछ अब तक लिखा है मिथ्या रहा है इस मिथ्या को जल जाने दीजिए।'[२] और वह अपना

१ आधी रात, पृ० ८०
२ वही, पृ १०४

सारे साहित्य को बसा देता है।

समस्या के इस विवेचन में आत्म-प्रधान सौन्दर्यपरक साहित्य के रचयिता द्वारा अपनी कुण्ठाओं की स्वीकृति कराकर भी नाटककार पाठक की बुद्धि को अभिभूत नहीं कर पाता क्योंकि पाठक यह कैसे मान ले कि ऐसे साहित्य की रचना करने वाला प्रत्येक कवि अवश्य ही अपनी कुण्ठाओं से आक्रान्त होता है और ऐसी कविता रोगी होने पर ही लिखी जा सकती है। तर्कों में बुद्धि की अपेक्षा भावना का आश्रय अधिक लिया गया है इसीलिए उनमें अधिक गहराई नहीं। असाधारण चित्रों में केवल बुद्धिवादी तर्क ही समस्या के उद्घाटन में सफल होते हैं जिनका इसमें अभाव है।

इस प्रकार दोनों समस्याओं के विवेचन में नाटककार 'अंशतः' ही सफल है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार के पास एक निश्चित विचार है जिसके प्रभाव से आक्रान्त होकर वह समस्या के द्विपक्षी तटस्थ विवेचन की अपेक्षा अपनी बात ही अधिक कहना चाहता है।

इन दो समस्याओं के विवेचन के अतिरिक्त नाटककार ने कथानक के माध्यम से मानव की पाशविक वृत्ति पर व्यंग किया है। पुरुष की उद्दाम वासना का चित्रण कर उसने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री के लक्ष्य पर पुरुष ने कभी सदय होकर विचार नहीं किया। जिस स्त्री के जीवन में चार प्रेमी रहे हों वह अपने जीवन का निर्वाह कैसे कर सकती है। राधाचरण के शब्दों में नाटककार व्यंग करता है 'जिस स्त्री के जीवन में एक दो तीन चार प्रेमी हो उठें—सिवा आत्महत्या के वह और कर ही क्या सकेगी ?"[1] मायावती के जीवन में आने वाले चार प्रेमियों में समाज सुधारक का दम्भ करने वाले भी हैं। इसी को लक्ष्य करके मायावती कहती है—"आप और आप ही की तरह बहुत से लोग हैं जो न तो सुधारक हैं न उपदेशक और न सेवक। मनुष्य की जोंकें मनुष्यता के हृदय का रक्त चूस रही हैं।"

यह व्यंग पाठक के हृदय पर अवश्य गहरा प्रभाव डालता है परन्तु नाटककार ने उन्हें तीव्र करने का कहीं प्रयास नहीं किया। नाटककार का लक्ष्य तो उन दो समस्याओं के विवेचन में ही है जिनमें वह 'अंशतः' सफल हुआ है।

शिल्पपक्ष

कथानक-विन्यास

कथानक के चयन और संगठन की दृष्टि से नाटककार के कौशल का विशेष

---

१ आधी रात पृ १४१

परिचय मिलता है। नाटक में दो मुख्य पात्र हैं—प्रकाशचन्द्र और मायावती। प्रकाशचन्द्र की अपनी स्वतन्त्र समस्या है परन्तु उसके विवेचन में पूर्णता लाने के लिए मायावती जैसे पात्र का समावेश आवश्यक है। इसी प्रकार मायावती की अपनी समस्या है और उसके प्रयोग में प्रमुख भाग प्रकाशचन्द्र का है। इस प्रकार दोनों पात्र दोहरी विशेषताओं (यद्यपि दोनों में ही असाधारण विशेषताओं की आवश्यकता है) से युक्त हैं। दोनों में अपनी तथा दूसरे की समस्या के निर्वाह के लिए उपयुक्त गुणों का सामंजस्य किया गया है। घटनाओं एवं चरित्रों को बौद्धिक दृष्टि से कहीं भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक सम्भावित अस्वाभाविकता के लिए नाटककार ने तर्क प्रस्तुत कर दिया है। और इस सब विश्लेषण और सम्बद्धता के साथ-साथ नाटक का आकार भी अपेक्षाकृत बड़ा नहीं है। यह सब नाटककार की कुशल संगठन-शक्ति का ही परिचायक है।

समस्या-नाटक के कथानक का कुशल विन्यास वह माना जाता है जिसमें समस्या पर तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन के लिए पूर्ण अवकाश रहे। इस दृष्टि से यह नाटक सर्वथा सफल है। इसमें कथानक के मुख्य और सूक्ष्म भाग को इस प्रकार विभाजित किया गया है कि दोनों समस्याओं के तर्कपूर्ण विवेचन में भी कथानक में स्वाभाविकता बनी रहती है। कथानक की गति अवश्य मन्द हो जाती है परन्तु बौद्धिक विवेचन में ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

नाटक में दो समस्याएँ एक साथ उठाई गई हैं। यद्यपि उनमें सम्बद्धता पाई जाती है तथापि इससे नाटक में दुरूहता बढ़ गई है और इस दुरूहता और जटिलता के कारण नाटक में कलागत सौन्दर्य की क्षति हुई है। यदि दो दार्शनिक समस्याओं की अपेक्षा एक ही समस्या का चित्रण किया जाता तो नाटक अपेक्षा कृत अधिक सफल होता।

प्रभाव की दृष्टि से भी यह कथानक संगत सफल है, क्योंकि प्रेत का आना तान्त्रिक द्वारा उससे बातें करना आदि इतना अधिक प्रभाव रखता है कि मूल उद्देश्य गौण हो जाता है।

कथानक के द्वितीय अंक में नाटककार ने कुतूहलमय स्थिति की योजना की है परन्तु इसके चित्रण में भी नाटककार तर्क-वितर्क की प्रधानता के कारण असफल है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक चरित्रांकन की आधुनिकतम विशेषताओं से युक्त है। यह विशेषता इस नाटक के पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी

हिन्दी नाटक में नहीं पाई जाती। चरित्र-चित्रण की सामान्य शैली में पात्रों के साथ पाठक या प्रेक्षक का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे उनके जीवन की घटनाओं का पाठक की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। रामवत् पात्र पाठक के पक्ष में और रावणवत् पात्र पाठक के विपक्ष में हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति का विज्ञान-युग में विकास हुआ और पाठक प्रत्येक पात्र की समस्या का उसकी परिस्थितियों एवं परिवेश के मध्य सहानुभूति से विचार करने लगा। यह माना जाने लगा कि पात्र के दुष्कार्यों के लिए समाज उत्तर दायी है। मिश्रजी के प्रायः सामाजिक नाटकों में हमें यही प्रवृत्ति लक्षित होती है जहाँ हमें चन्द्रकला मुरारीलाल आशादेवी और नवरतसिंह जैसे पात्र से भी पूर्ण सहानुभूति है। विज्ञान की प्रगति के साथ हम चरित्र को भाव की अपेक्षा विचार द्वारा समझते हैं। चरित्रों के कार्यों से पूर्णतया तटस्थ रहकर हम उनकी प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। वैज्ञानिक चरित्रांकन की इस विशेषता का इस नाटक में सुन्दर एवं सफल प्रयोग है। किसी भी पात्र के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। लगभग सभी पात्रों में गुण भी हैं और दुर्गुण भी परन्तु हमारी आसक्ति किसी के साथ नहीं। रसवादी दृष्टि से यह विशेषता यद्यपि दोष ही कही जायगी परन्तु विज्ञान के युग में विश्लेषण एवं चरित्रांकन की इस आधुनिकतम शैली को समस्या-नाटक का गुण ही कहा जायगा। इस शैली को हिन्दी नाटक में अवतरित करने का श्रेय मिश्रजी को ही प्राप्त है।

चरित्र-चित्रण में अपेक्षित विस्तार की कमी एक प्रमुख दोष है। यद्यपि दोनों प्रमुख चरित्रों को बौद्धिक दृष्टि से अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता परन्तु इतनी अधिक असाधारणता पाठक के मस्तिष्क में केवल तर्क द्वारा नहीं उतरती। वह प्रत्येक तर्क को लेकर उसका विवेचन करे और फिर उसी आधार पर चरित्र के प्रति धारणा बनाए, यह उससे अपेक्षित नहीं। इतने अधिक असाधारण चरित्रों के लिए नाटककार को नाटक के आकार का विस्तार कर उनका अधिक विश्लेषण करना चाहिए था। केवल एक तर्क देने से चरित्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इसलिए यह चरित्र स्वाभाविक होते हुए भी ग्रहणीय नहीं। चरित्र-चित्रण में प्रकाशचन्द्र के चरित्र में परिवर्तन दिखाया गया है परन्तु उसमें भी नाटक का स्तर इतना बौद्धिक रहा है कि पाठक को उसमें स्वाभाविकता का आभास भी नहीं होता। वस्तुतः इतने असाधारण चरित्रों की बौद्धिकता को देखकर यदि नाटककार पर यह आरोप लगाया जाय कि उसके पात्र स्वतः व्यक्तित्वहीन हैं और नाटककार की वाणी में ही बोल रहे हैं गलत न होगा।

संवाद

अन्य नाटकों की तरह इस नाटक के संवाद भी स्वाभाविक एवं सफल हैं। दार्शनिक विषयों को भी सरस एवं व्यंग्यपूर्ण बोलचाल की भाषा में प्रतिपादित किया गया है। प्रथम पूर्ववर्ती नाटकों की अपेक्षा इस नाटक के संवादों में क्रमागत प्रौढ़ता का भी आभास होता है।

संवाद की दृष्टि से एक नवीन प्रयोग भी नाटककार ने किया है। नाटक में प्रेम और रामाचरण के संवाद तथा मायावती और प्रकाशचन्द्र के संवादों को एक ही समय अभिनीत किया गया है, जिसके कारण केवल संवाद का प्रवाह ही नष्ट नहीं होता प्रत्युत असम्बद्धता के कारण भाव भी अस्पष्ट रह जाते हैं और पाठक को अर्थ समझने के लिए कई बार संवादों को पढ़ना पड़ता है। अभिनय में शायद यह कठिनाई कुछ कम हो परन्तु प्रवाह के टूटने के कारण एक बार में अर्थ समझ लेना तो वहाँ भी कठिन होगा।

इस नाटक की शैली में अन्य नाटकों की अपेक्षा एक नवीन विशेषता यह है कि इसमें नाटककार ने विकास के लिए प्रतीक शैली का भी सुन्दर प्रयोग किया है। मायावती अपने जीवन के प्रयोग की पूर्णता तथा आत्महत्या की बात को राजा और रानी के कमल के माध्यम से कह देती है—

मायावती—"वही कहानी याद है?

प्रकाशचन्द्र—"कौन सी?

मायावती—"वही जहाँ रानी डूबी थी कमल का फूल खिल गया।

राजा उसे तोड़ने के लिए ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा कमल अथाह जल की ओर खिसकता गया। अन्त में राजा भी डूब गया और फिर वहाँ एक की जगह दो फूल हो गए? उस फूल में और मेरे प्रयोग में कोई अन्तर नहीं।"[1]

विषय की जटिलता और सांकेतिकता से कठोर कल्पना के कारण कहीं-कहीं संवाद दुरूह भी हो गए हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि मिश्रजी की नाट्य कुशलता का इसमें यथेष्ट परिचय मिलता है परन्तु विषय की जटिलता से उत्पन्न हुई नीरसता एवं दुरूहता के कारण इसे मिश्रजी के प्रथम श्रेणी के नाटकों में नहीं रखा जा सकता।

---

१ आधी रात पृ० १११

(ख) विचार प्रधान नाटक

(१) राक्षस का मन्दिर (प्रतीक नाटक)

इस नाटक की समीक्षा से पूर्व इसके स्वरूप से अवगत होना आवश्यक होगा क्योंकि इसका शिल्प विधान अन्य नाटकों से सर्वथा भिन्न है। नाटक में मुख्य अर्थ की व्यंजना के लिए नाटककार ने प्रतीक-पद्धति का प्रयोग किया है। वैसे तो समस्या-नाटक या विचार प्रधान नाटक में प्रतीक-पद्धति का अप्रत्यक्ष प्रयोग अनिवार्यतः होता है।[1] परन्तु इस नाटक में प्रतीक का प्रयोग इतना व्यापक और विस्तृत हुआ है कि यदि कोई इसे प्रतीक नाटक भी कहे तो अनुचित न होगा। परन्तु इसमें प्रतीक का स्वरूप 'कामना' 'ज्योत्स्ना' या 'प्रबोध चन्द्रोदय' की तरह स्पष्ट नहीं है। इन नाटकों में तो मूर्त एवं अमूर्त कथा इतनी समानान्तर चलती है कि कथा के सूक्ष्म अवयवों में भी सिद्धान्त की व्यंजना की झलक मिलती है अर्थात् कार्य-व्यापार मूर्तपक्ष की अपेक्षा अमूर्तपक्ष को अधिक ध्वनि देते हैं अभीष्ट विचार अथवा सिद्धान्त प्रतीक एवं श्लेष के कारण विस्मृत नहीं होने पाता। परन्तु इस नाटक में प्रतीक का स्तर कुछ अधिक व्यापक है। सिद्धान्त तथा विचार की व्यंजना सूक्ष्म अवयवों के स्थान पर केवल समग्र प्रभाव से होती है। मूर्त कथा का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है और उसका विकास भी स्वतन्त्र गति से हुआ है। दूसरे इस नाटक में प्रतीक का निर्वाह इस कौशल से किया गया है कि मूल कथा में से कई प्रतीकों की व्यंजना होती है जिसके कारण नाटक का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

वस्तुपक्ष

मूर्त रूप में इस नाटक में एक वेश्या की कन्या—अशगरी के उत्थान की कथा है जिसमें उसकी व्यक्तिगत तथा सामाजिक बाधाओं एवं समस्याओं का

---

१. एक रूप में तो समस्या नाटक भी एक प्रकार के प्रतीक ही हैं—जिनमें पात्र स्वतन्त्र व्यक्तित्व न लेकर लेखक की मान्यताओं के प्रतीक मात्र हैं। इस प्रकार अन्तर इतना है कि वहाँ सिद्धान्त मान्य किन्तु नैतिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक हो गए हैं।

—आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र पृ० ५०

विशद चित्रण है। अन्तिम अंक में वेश्या सुधार आश्रम की वास्तविक स्थिति का चित्रण कर नाटककार ने तथाकथित सुधारवादियों की पोल खोलने का भी सफल प्रयास किया है जिससे समस्या के सामाजिक रूप का भी अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार मूल कथानक के स्वतन्त्र महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रतीक

कथानक के मूर्तपक्ष का अस्तित्व स्वतन्त्र होते हुए भी उद्देश्य की दृष्टि से गौण महत्व रखता है। नाटककार ने इसे केवल अपने प्रतीक का आधार बनाया है।

प्रतीकशैली की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें विविध एवं गहरी व्यंजना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। प्रतीक के माध्यम से पाठक अनेकानेक गूढ़ अर्थों को भी जान लेता है। अश्करी को किसी भी शोषित वस्तु का प्रतीक मानकर सम्पूर्ण कथानक को स्पष्ट किया जा सकता है। अश्करी के लिए नारी मानवता आदि प्रतीक तो सहज ही ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य प्रतीकों की अपेक्षा नारी का प्रतीक ही इसका सबसे समुन्नत पक्ष है और शायद मुख्य रूप से इसी का प्रयत्न नाटककार को भी अभीष्ट है। अतः नारी को प्रतीक मानकर ही कथानक की अभिव्यक्ति को स्पष्ट किया जायगा।

अश्करी नारी का प्रतीक है। वह बाल्यावस्था में रईस के रूप में आई थी। युवा हो जाने पर वह अपना प्राप्य प्राप्त करने के लिए देवता राक्षस और मानव तीनों प्रकार के पात्रों के प्रतीक रामलाल मुनीश्वर और रघुनाथ के पास जाती है, परन्तु उसकी समस्या को यथार्थ दृष्टि से समझकर सहयोग देने में कोई भी तत्पर नहीं होता। रामलाल देवता है वह अश्करी की प्राकृतिक बुभुक्षाओं को भी समझने में असमर्थ है। वह अपने योग में इतना मस्त है कि उसे अपने संरक्षण में होने वाले पापों का भी ज्ञान नहीं होता। वह अश्करी का संरक्षक है उसे प्रेम भी करता है उसके लिए त्याग भी कर सकता है परन्तु उसकी स्वाभाविक समस्या को समझने में असमर्थ है। दूसरा पात्र मुनीश्वर (राक्षस) उसे केवल स्वार्थ के लिए प्रेम करता है। अश्करी द्वारा अनुरोध किए जाने पर भी वह प्रणय को स्थायी बना लेने के लिए उसे भगा ले जाने को तैयार नहीं। अश्करी उसके साथ प्रणय को निष्कंटक बना लेने के लिए अपने संरक्षक रामलाल को विष देने को भी प्रस्तुत हो जाती है पर वह तो उत्तरदायित्व लेने को तैयार ही नहीं। तीसरा पात्र रघुनाथ (मानव) भी अश्करी से प्रेम करता है परन्तु साहस के अभाव में उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता। उसकी भावनाएँ ग्रन्थि बनकर काव्य में प्रकट होती हैं। अश्करी के प्रणय-निवेदन पर वह इस प्रेम

को स्पष्ट स्वीकार भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार सभी ओर से निराश हो मधुकरी बिना किसी के सहयोग के निजी उत्थान के लिए प्रवृत्त होती है। वह अपनी प्रणय वृत्ति का उन्नयन ईश्वर भक्ति के माध्यम से करती है और आर्थिक आवश्यकताओं के लिए अध्यापिका का कार्य स्वीकार करती है। परन्तु नाटककार का स्पष्ट मत है कि निजी वृत्तियों के उन्नयन के पश्चात् भी नारी का सामंजस्य समाज के साथ नहीं हो सकता क्योंकि विरोधी परिस्थितियाँ सक्रिय होती है और एकांगी तथा अपने तक सीमित उन्नयन-निष्क्रिय। अतः मधुकरी को भी समाज ने इस रूप में न रहने दिया। राक्षस अपनी वासना वृत्ति के अधीन उसे पुनः जाल में फँसाने के प्रयत्न में रहा। मानव (रघुनाथ) भी उसके सरल भक्त रूप को देखकर प्रणय का वरदान देने के लिए व्याकुल हो उठा। ललिता भी उसके गतजीवन से परिचित हो भक्त रूप को ढोंग समझकर घर से निकाल देती है। इस प्रकार उन्नयन के पश्चात् भी समाज के व्यावहारिक जीवन के साथ उसका समझौता न हो सका।

अन्तिम अंक मे मधुकरी एकांगी सम्भाषण से होकर आने के कारण स्वयं सक्रिय होती है। वह मानव को भी राक्षस की चालों में आने से बचाती है और स्वयं भी उसकी सारी चालों को विफल कर देती है। वह नारी-जाति के उत्थान के लिए स्वयं मातृ-मन्दिर की व्यवस्थापिका बन सेवा-व्रत ग्रहण करती है। अतः कथानक का सार हुआ—नारी को अवनति के गर्त से निकलने के लिए स्वयं समाज के राक्षस के विरुद्ध सक्रिय होना पड़ेगा।

इसी प्रकार यदि मधुकरी को मानवता का प्रतीक माना जाय तो अभिव्यक्ति इस प्रकार होगी मानवता सभी प्राणियों (देवता मानव और राक्षस) के पास अपने विकास के लिए गई परन्तु कहीं भी उसे यथोचित सहयोग न मिला। सभी से निराश हो वह स्वयं अपने निजी उत्थान में प्रवृत्त हुई परन्तु यहाँ भी उसे सफलता न मिली। अतः अन्त में वह राक्षस का विरोध और मानव की सहायता करते हुए सम्पूर्ण मानवता के सामूहिक उत्थान मे प्रवृत्त हुई। अतः निष्कर्ष हुआ मानवता को पीड़ा से मुक्त होने के लिए स्वयं दानवता के विरुद्ध सक्रिय होना पड़ेगा।

इस मुख्य प्रतिपाद्य के अतिरिक्त नाटककार ने एक अन्य समस्या का भी विवेचन किया। उसने ललिता और रघुनाथ के माध्यम से रोमांटिक प्रेम और संमित प्रेम के ऊपर यथार्थ प्रेम अर्थात् विवाह की विजय दिखलाई है। ललिता और रघुनाथ परस्पर आकृष्ट होते हैं परन्तु एक का प्रेम रोमांटिकता (प्रेम की अभिरञ्जना) और दूसरे का प्रेम संयम की सीमा को स्पर्श कर रहा था जिसके

कारण दोनों में परस्पर दूरी बनी रही। अन्त में दोनों अपनी स्थिति की यथार्थता को पहचान कर परस्पर विवाह करना स्वीकार करते हैं। दोनों अपनी स्थिति का विश्लेषण बड़े तर्कपूर्ण ढंग से करते हैं। ललिता के शब्दों में रोमांटिकता का विद्रोह देखिए—

रघुनाथ— (रोमांटिकता के बिना) 'पर यह जीवन कितना सूना रहेगा।"

ललिता— 'पर साथ ही साथ कितना सुन्दर और कितना सुखी होगा! हृदय के भीतर चिन्ता और विचार का समुद्र लहरें नहीं मारेगा। वहाँ यह बात न होगी जिसके कारण एक बार दब जाने या स्वर सुन मन से हृदय कांप उठता है। मैं सब कुछ भूल जाती थी।"[1]

इसी प्रकार रघुनाथ संयम की अतिरञ्जना का खण्डन करता है—

रघुनाथ— मुझे पढ़ाया गया था अपनी लालसाओं को दबाओ युवती के प्रेम से दूर रहो यह सब माया है जीवन इससे बिगड़ जाता है। मैं तोते की तरह अपना पाठ याद करता जाता था। आदर्शों के झमेले में मैं जीवन को नहीं समझ सका।"[2]

इस प्रकार नाटककार ने प्रेम और संयम दोनों की अतिरञ्जना का खण्डन किया है।

पात्र

नाटक में पात्रों का व्यक्तित्व भी एक विशिष्ट प्रभाव की अभिव्यंजना करता है। अत इसका विचार भी वस्तुपक्ष के अन्तर्गत करना समीचीन है। नाटक में मुख्य रूप से चित्रांकन चार पात्रों का हुआ है।

नाटक का प्रधान पात्र मुनीश्वर राक्षस का प्रतीक है। उसके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है दूसरों से छल करना और अपनी चतुराई के कारण दूसरों को इसका ज्ञान न होने देना। वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए पिता पत्नी पुत्र, मित्र प्रेमिका और समाज सभी से छल करता है परन्तु कोई भी उसकी यथार्थ प्रकृति को नहीं समझ पाता। प्रत्येक उचित-अनुचित उपाय द्वारा अपना काम निकालते हुए भी वह समाज में सम्मान का पात्र है। नाटककार ने इस प्रतीक से समाज की उस प्रवृत्ति को अनावृत किया है जो जीवन-संघर्ष में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए दूसरों की सरलता से लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित करती है। इस

1 राक्षस का मन्दिर पृ १५८
2. वही पृ० १२४

प्रवृत्ति में निजी स्वार्थ के लिए दूसरों से छल करना ग्रमानवीय नहीं क्योंकि 'योग्य तम ग्रवशेष' ही सृष्टि का आधारभूत सिद्धान्त है। समाज में इस प्रवृत्ति का ग्रवलम्बन करने वाला वर्ग सक्रियता के कारण लौकिक दृष्टि से प्रतिष्ठित एवं प्रगतिशील कहलाता है।

दूसरा पात्र रघुनाथ मानव का प्रतीक है। उसमें नाटककार ने निष्क्रियता आत्मरमण पलायन साहस का ग्रभाव आदि दुर्बल वृत्तियों के साथ दया क्षमा सरलता का सामंजस्य किया है। वह अपनी इन दुर्बल वृत्तियों के कारण प्रत्येक काय में असफल होता है। केवल नाटक के अन्त में सब ओर से ठोकरें खाने के पश्चात् उसमें उत्साह जाग्रत होता है और वह यथार्थ को पहचान कर कर्तव्य की ओर अग्रसर होता है। यह चरित्र भी आधुनिक युग की देन व्यक्तिवाद की एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

तीसरा पात्र रामलाल देवता का प्रतीक है। वह पूर्णतया अपने-आप म मस्त है। उसकी दो ही आवश्यकताएँ हैं—सुरा और सुन्दरी बस इन दो से भिन्न उसे किसी बात की चिन्ता नहीं। उसके संरक्षण में क्या-क्या पाप हो रहे हैं, इसकी भी उसे चिन्ता नहीं। इसके अतिरिक्त उसमे संयम त्याग उदारता और विचार-स्वातन्त्र्य की भावना का भी नाटककार ने समावेश किया है। परन्तु उसके ये सभी गुण उसकी तटस्थता की वृत्ति के कारण समाज के किसी उपयोग के नहीं। इस चरित्र के माध्यम से नाटककार आधुनिक युग के एक ऐसे वग को ग्रनावृत करता है जो सम्पन्न है और ग्रपने आप में मस्त है। समाज की उस कोई चिन्ता नहीं।

आधुनिक युग में विज्ञान और उद्योग के विकास के कारण समाज में एक वैचारिक क्रान्ति आई। जिसने समाज की धारणाओं विचारों और जीवन-मूल्यों को सर्वथा बदल दिया। जीवन की गति व्यक्तिवाद को आधृत करके परिचालित होने लगी। इस व्यक्तिवाद की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों—तटस्थता निष्क्रियता एवं स्वार्थ सिद्धि को लेकर ही नाटककार ने क्रमश रामलाल रघुनाथ और मुनी श्वर के चरित्र का अंकन किया है और इन्हें देवता मानव और राक्षस का अभिधान भी आधुनिक युग के नैतिक मूल्यों और मानदण्डों के अनुसार दिया है। इस प्रकार इन तीनों चरित्रों द्वारा नाटककार ने आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने का सफल प्रयास किया है।

सरकरी के चरित्र के दो रूप हैं—परिवतन से पूर्व का रूप आधुनिक नारी की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह अपने प्राप्य के लिए प्रयत्न शील है परन्तु परिवतन के पश्चात् वह एक देवी का प्रतिरूप है जिसमें वह अपने

ो नहीं सम्पूर्ण नारी-वर्ग के उत्थान के लिए प्रयुक्त है। परिवर्तन से पूर्व का रूप ो समाज के अधिक निकट है।

अब मधकरी के देवी-रूप को छोड़कर शेष चरित्रों को वर्ग चरित्रों के न्तर्गत रखा जायगा।

शिल्पपक्ष

जैसा कि वस्तुपक्ष में स्पष्ट किया गया है कि नाटक में मुख्य धर्म की व्यं जना प्रतीक के माध्यम से हुई है अतः प्रतीक नाटक की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए ही इसके नाट्य शिल्प की आलोचना करना समीचीन होगा। प्रतीक शैली में लिखे गए नाटक की विशेषताएँ आख्यान नाटक की विशेषताओं से भिन्न होती हैं। वहाँ उसका चिन्तन पक्ष गहरी एवं विविध व्यंजनाओं के कारण प्रबल हो जाता है वहाँ उसके शिल्प का अपेक्षाकृत ह्रास होता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए प्रसिद्ध आलोचक कैंडेलर लिखते हैं— 'सुव्यवस्थित प्रतीक होने पर भी प्रतीक नाटक में कलात्मक अभिव्यंजना सीमित होती है क्योंकि इसका सम्बन्ध हृदय से न होकर मस्तिष्क से होता है और क्योंकि इसमें जीवन के स्थान पर अमौलिक विचारों और जीवित पात्रों के स्थान पर वर्गगत भावों का चित्रांकन होता है।'[1] स्पष्ट है कि नाट्य-शिल्प में ह्रास का प्रमुख कारण कथानक को विचार के अनुरूप गठित करना तथा चरित्रों को प्रतीकों की व्यंजना के अनुकूल आग्रहपूर्वक ढालना है जिससे स्वाभाविकता और सजीवता को क्षति पहुँचती है। इस नाटक में नाटककार की दो बातें अभीष्ट होती हैं एक ओर तो वह प्रयत्न करता है कि नाटकीय तत्वों का अधिकाधिक रोचक और स्वाभाविक गठन हो दूसरे वह अपने विचार का पूर्ण प्रेषण कर सके। इन दोनों के समन्वय में ही नाटक की सफलता निहित है। अतः सभी तत्वों के परीक्षण में विचारणीय यह है कि नाटककार मूल एवं अमूर्त दोनों पक्षों के समन्वय में कहाँ तक सफल हुआ है। केवल एक पक्ष को देखकर उसकी अस्वाभाविकताओं से नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं।

कथानक-विन्यास

कथानक का मूर्त रूप ही पाठक के सम्मुख अधिक महत्व रखता है। अतः

1 Moreover the symbolical play even when properly labelled, is limited in its artistic appeal, because it speaks to the intellect rather than the heart, because it substitutes for a picture of life disembodied ideas and for living men and women abstract types.

—The Aspects of Modern Drama Chandler Page 100

उसका एक सीमा तक निर्वाह होना अनिवार्य है। उसमें छिद्रान्वेषण से अस्वाभाविकता आदि दोष भले ही ढूँढ लिए जाएँ परन्तु मोटे तौर पर उसमें अन्विति का होना आवश्यक है। इस नाटक के मूर्त कथानक में अन्विति का सफल निर्वाह हुआ है। यदि प्रतीकार्थ को विस्मृत भी कर दिया जाय तो भी कथानक में एक स्वतन्त्र विचार है एक सजीव समस्या है और उसमें आद्योपान्त एकसूत्रता है। इसी एकसूत्रता की दृष्टि से नाटक के विन्यास-क्रम का भी परीक्षण किया जा सकता है। कथानक को आदि मध्य और अन्त इन तीन भागों में अंकानुसार सुगमता से बाँटा जा सकता है। इस प्रकार कथानक-विन्यास और अंक-योजना में सामंजस्य बनाए रखने में भी नाटककार सफल है। प्रतीकार्थ की दृष्टि से तो अन्विति और कथानक विन्यास की योजना और भी संगत है।

इन सफलताओं के साथ साथ मूर्त कथानक के दोष भी बड़े स्पष्ट हैं जैसे घटनाओं में सापेक्ष अनुपात की कमी घटनाओं का सम्बन्ध करने वाले तन्तुओं की अति सूक्ष्मता अस्वाभाविक घटनाएँ आदि। परन्तु इन दोषों का बहुत अंशों तक परिहार प्रतीकार्थ के स्पष्ट हो जाने पर हो जाता है। जैसे रामलाल जैसे क्रोधी व्यक्ति में इतना संयम दिखाना कि वह अपने हाथ पर स्वयं चाकू मार कर खून की धार बहा दे परन्तु उफ तक न करे। प्रत्यक्ष जगत् में यह घटना सर्वथा अस्वाभाविक है, परन्तु रामलाल पर देवता के प्रतीक को चरितार्थ करने के लिए उसमें मस्ती और संयम का सामंजस्य दिखाना आवश्यक था। इसी प्रकार प्रतीक स्पष्ट हो जाने पर अन्य दोषों का प्रभाव भी क्षीण हो जाता है।

प्रतीकार्थ के स्पष्ट हो जाने पर भी नाटक को अप्रासंगिकता के दोष से मुक्त नहीं कहा जा सकता। तीसरे अंक में साहित्यकारों आलोचकों प्रोफेसरों की चर्चा उनकी देश-सेवा गांधीजी की देशभक्ति खादी आदि के प्रयोग के आग्रह आदि पर लिखे गए लगभग १५ पृष्ठ किसी भी प्रकार मूल समस्या के साथ नहीं जोड़े जा सकते।

कथानक की रोचकता का आधार मुख्यतः कौतूहल होता है। परन्तु इस नाटक के विकास में कौतूहल जिससे आगे का हाल जानने की उत्सुकता बनी रहती है कम होने पर भी रोचकता का निर्वाह है। इसमें घटनाएँ किस दिशा की ओर परिवर्तित होंगी इसका आभास घटना से पूर्व सर्वथा नहीं होता। इस कथानक-विन्यास की तुलना शरत्-साहित्य के कथानक-विन्यास से की जा सकती है।

प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने वाली घटनाओं के अतिरिक्त मूल कथानक में कोई भी असाधारण घटना नहीं है। मुनीश्वर यद्यपि छल-कपट में चतुर है परन्तु

विपक्ष की दुर्बलता के कारण उसका संघर्ष कहीं भी द्वन्द्व का रूप धारण नहीं करता। द्वन्द्व के अभाव में कथानक का विकास मन्थर गति से होता है। साधारण नाटक की दृष्टि से यह दोष कहा जा सकता है परन्तु यथार्थ को स्पष्ट करने में इसकी दुरूहता का कई अंशों तक परिहार हो जाता है।

चरित्र चित्रण

प्रतीक नाटक की सफलता वास्तव में चरित्र-चित्रण की कुशलता पर निर्भर करती है। प्रतीकार्थ की व्यंजना और चरित्रों की सजीवता दोनों में सामञ्जस्य बनाए रखना ही नाटककार के कौशल का परिचायक है।

जैसा कि वस्तुपक्ष में विवेचन किया जा चुका है केवल अटकरी के दैवी रूप को छोड़कर शेष सभी चरित्र वर्ग चरित्र हैं। परन्तु वर्ग चरित्रों की श्रेणी में रखकर भी उन्हें हम अपने प्रतीकों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सफल नहीं कह सकते। वे वर्ग चरित्र होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से असाधारण चरित्र हैं क्योंकि नाटककार ने जीवन के अन्य अनेक पहलुओं की अपेक्षा केवल प्रतीकार्थ का निर्वाह करने वाली विशेषताओं का ही उनमें प्रतिष्ठापन किया है। इस कारण चरित्रों में सजीवता का अभाव कहीं-कहीं खटकता है।

चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए नाटककार ने उनके भावों की अपेक्षा उनके विचारों का अधिक स्थान दिया है। तर्क एवं विचार मनुष्य के ज्ञान एवं बौद्धिक प्रत्युत्पन्नमति का परिचय अवश्य देते हैं परन्तु सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उद्घाटन इनसे नहीं होता। जहाँ भावपूर्ण प्रसंग आए हैं वहाँ भी पात्र अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कृत्रिम व्यवहार करते हैं। मुनीश्वर और उसके पिता का मेल कितनी भावनात्मक स्थिति में हुआ—पिता अपने पुत्र के हत्यारे का प्राणपण से पीछा करते हुए हत्यारे के स्थान पर अपने पुत्र को ही प्राप्त कर ले कितना हृदयस्पर्शी एवं भावनात्मक मेल है परन्तु नाटककार ने इसे भावनाशून्य एवं बौद्धिक बना दिया है। भाव का ऐसा बहिष्कार जीवन में सम्भव नहीं। यह असाधारणत्व की सीमा है। अतः इसके कारण चरित्रों में स्वाभाविकता एवं सजीवता की क्षति हुई है। रामलाल के चरित्र-सृजन में नाटककार अंशतः सफल है। रघुनाथ और मुनीश्वर के चरित्र में जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है वे व्यक्तिवाद की सीमाओं को स्पर्श करते हुए भी जीवन और समाज के साथ समन्वित की जा सकती हैं। परन्तु रामलाल के चरित्रांकन के लिए वे घटनाएँ प्रत्यक्ष जीवन की दृष्टि से पूर्णतया अस्वाभाविक हैं। इतना अधिक संयम और इतनी अधिक मस्ती किसी व्यक्तिवादी बौद्धिक चरित्र में मिलनी असम्भव है कि वह स्वयं स्वेच्छा से केवल संयम के प्रदर्शन के लिए हाथ में चाकू मारकर खून

उसका एक सीमा तक निर्वाह होना अनिवार्य है। उसमें छिद्रान्वेषण से अस्वाभाविकता आदि दोष भले ही ढूंढ लिए जाएँ परन्तु मोटे तौर पर उसमें अन्विति का होना आवश्यक है। इस नाटक के मूर्त कथानक में अन्विति का सफल निर्वाह हुआ है। यदि प्रतीकार्थ को विस्मृत भी कर दिया जाय तो भी कथानक में एक स्वतन्त्र विचार है एक सजीव समस्या है और उसमें आद्योपान्त एकसूत्रता है। इसी एकसूत्रता की दृष्टि से नाटक के विन्यास क्रम का भी परीक्षण किया जा सकता है। कथानक को आदि मध्य और अन्त इन तीन भागों में संकानुसार सुगमता से बाँटा जा सकता है। इस प्रकार कथानक-विन्यास और प्रबन्ध-योजना में सामंजस्य बनाए रखने में भी नाटककार सफल है। प्रतीकार्थ की दृष्टि से तो अन्विति और कथानक विन्यास की योजना और भी सफल है।

इन सफलताओं के साथ-साथ मूर्त कथानक के दोष भी बड़े स्पष्ट हैं जैसे घटनाओं में सापेक्ष अनुपात की कमी घटनाओं को सम्बद्ध करने वाले तन्तुओं की अति सूक्ष्मता अस्वाभाविक घटनाएँ आदि। परन्तु इन दोषों का बहुत अंशों तक परिहार प्रतीकार्थ के स्पष्ट हो जाने पर हो जाता है। जैसे रामलाल जैसे मोसी व्यक्ति में इतना संयम दिखाना कि वह अपने हाथ पर स्वयं चाकू मार कर खून की धार बहा दे परन्तु उफ तक न करे। प्रत्यक्ष जगत् में यह घटना सर्वथा अस्वाभाविक है परन्तु रामलाल पर देवता के प्रतीक को चरितार्थ करने के लिए उसमें मस्ती और संयम का सामंजस्य दिखाना आवश्यक था। इसी प्रकार प्रतीक स्पष्ट हो जाने पर अन्य दोषों का प्रभाव भी क्षीण हो जाता है।

प्रतीकार्थ के स्पष्ट हो जाने पर भी नाटक को अप्रासंगिकता के दोष से मुक्त नहीं कहा जा सकता। तीसरे अंक में साहित्यकारों आलोचकों प्रोफेसरों की चर्चा उनकी दल-सेवा गांधीजी की देशभक्ति खादी आदि के प्रयोग के आग्रह आदि पर लिख गए लगभग १२ पृष्ठ किसी भी प्रकार मूल समस्या के साथ नहीं जोड़े जा सकते।

कथानक की रोचकता का आधार मुख्यतः कौतूहल होता है। परन्तु इस नाटक के विकास में कौतूहल जिससे आगे का हाल जानने की उत्सुकता बनी रहती है कम होने पर भी रोचकता का निर्वाह है। इसमें घटनाएँ किस दिशा की ओर परिवर्तित होंगी इसका आभास घटना से पूर्व सर्वथा नहीं होता। इस कथानक-विन्यास की तुलना शरत्-साहित्य के कथानक-विन्यास से की जा सकती है।

प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने वाली घटनाओं के अतिरिक्त मूल कथानक में कोई भी असाधारण घटना नहीं है। मुनीश्वर यद्यपि छल-कपट में चतुर है परन्तु

विषय की दुर्बलता के कारण उसका सन्दर्भ कहीं भी दृश्य का रूप धारण नहीं करता। दृश्य के अभाव में कथानक का विकास मन्थर गति से होता है। साधारण नाटक की दृष्टि से यह दोष कहा जा सकता है परन्तु व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने में इसकी पुष्टता का कई अंशों तक परिहार हो जाता है।

चरित्र चित्रण

प्रतीक नाटक की सफलता वास्तव में चरित्र-चित्रण की कुशलता पर निर्भर करती है। प्रतीकार्थ की व्यंजना और चरित्रों की सजीवता दोनों में सामंजस्य बनाए रखना ही नाटककार के कौशल का परिचायक है।

जैसा कि वस्तुपक्ष में विवेचन किया जा चुका है केवल मदकरी के दैवी रूप को छोड़कर शेष सभी चरित्र वर्ग-चरित्र हैं। परन्तु वर्ग-चरित्रों की भूमि में रखकर भी उनके द्वारा हम अपने प्रतीकों का अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सफल नहीं कह सकते। वे वर्ग चरित्र होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से असाधारण चरित्र हैं क्योंकि नाटककार ने जीवन के अन्य अनेक पहलुओं की अपेक्षा केवल प्रतीकार्थ का निर्वाह करने वाली विशिष्टताओं का ही उनमें प्रतिष्ठापन किया है। इस कारण चरित्रों में सजीवता का अभाव कहीं-कहीं खटकता है।

चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए नाटककार ने उनके भावों की अपेक्षा उनके विचारों को अधिक स्थान दिया है। तर्क एवं विचार मनुष्य के ज्ञान एवं बौद्धिक प्रवृत्तिपरक का परिचय अवश्य देते हैं परन्तु सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उद्घाटन इनसे नहीं होता। जहाँ भावपूर्ण प्रसंग आए हैं वहाँ भी पात्र अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कृत्रिम व्यवहार करते हैं। मुनीश्वर और उसके पिता का मेल कितनी भावनात्मक स्थिति में हुआ—पिता अपने पुत्र के हत्यारे का प्राणपण से पीछा करते हुए हत्यारे के स्थान पर अपने पुत्र को ही प्राप्त कर के कितना हर्षमयी एवं भावनात्मक मेल है, परन्तु नाटककार ने इसे भावनाशून्य एवं बौद्धिक बना दिया है। भाव का ऐसा बहिष्कार जीवन में सम्भव नहीं। यह असाधारणत्व की सीमा है। अतः इसके कारण चरित्रों में स्वाभाविकता एवं सजीवता की क्षति हुई है। रामलाल के चरित्र-सृजन में नाटककार असफल रहा है। रघुनाथ और मुनीश्वर के चरित्र में जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है वे व्यभिचार की सीमाओं को स्पर्श करते हुए भी जीवन और समाज के साथ समन्वित की जा सकती हैं। परन्तु रामलाल के चरित्रांकन के लिए वे घटनाएँ प्रत्यक्ष जीवन की दृष्टि से पूर्णतया अस्वाभाविक हैं। इतना अधिक संयम और इतनी अधिक मस्ती किसी व्यभिचारी बौद्धिक चरित्र में मिलनी असम्भव है कि वह स्वयं स्वेच्छा से केवल संयम के प्रदर्शन के लिए हाथ में चाकू मारकर खून

की चाह रहा है।

नाटककार ने रघुनाथ के चरित्र-चित्रण में उसकी वृत्तियों को व्यक्ति का रूप देकर अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने का बड़ा सफल प्रयोग किया है। तीसरे अंक में उसे राक्षस के विरुद्ध प्रोत्साहित करने वाले युवक उसके हृदय की वृत्तियों के ही प्रतीक हैं।

मधुकरी के चरित्र में परिवर्तन की प्रक्रिया को छोड़कर स्वाभाविकता का बहुत अंशों तक निर्वाह हुआ है परन्तु फिर भी असाधारणता के कारण वह प्रतीकार्थ को ही अधिक स्पष्ट करती है।

कुल मिलाकर इस नाटक के चरित्र ही इसके सबल पक्ष हैं और चरित्र ही इसके दुर्बल पक्ष हैं। चरित्रों के सर्जन में नाटककार ने जिस कौशल का परिचय दिया है यदि उनका निर्वाह भी उसी के अनुरूप होता तो यह नाटक हिन्दी नाट्य-जगत् में एक महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी होता।

संवाद

नाटक के संवाद प्रतीकपक्ष की अपेक्षा मूर्तपक्ष को ही गति देते हैं। प्रतीक नाटक में विचारों को व्यंजित करने के लिए नाटककार साधारणतः संवाद को माध्यम बनाता है परन्तु इस नाटक में प्रतीकार्थ की व्यंजना व्यापक स्तर पर होने के कारण संवाद में गहन विचारों का अभाव है।

कथानक में द्वन्द्व एवं गति के अभाव के कारण संवादों में तीव्रता नहीं है। किसी विशेष समस्या पर तर्क-वितर्क के अभाव में संवादों में तर्कशीलता का गुण भी नहीं आया है। अतः भावावेश और बुद्धि के तीखे तर्कों के स्थान पर वार्तालाप साधारण स्तर का है जो घटनाओं का परिचय मात्र देता है। मुनीश्वर के स्वार्थ सिद्धि के लिए दिए गए तर्क कहीं-कहीं पाठक की बुद्धि को अवश्य आकृष्ट कर लेते हैं। परन्तु यह साधारण संवाद कथानक के सहज विकास के अनुरूप होने के कारण नाटक का गुण ही कहा जायगा।

नाटक के कथानक के विकास में भी प्रतीक शैली का सुन्दर प्रयोग हुआ है। मधुकरी अस्मिता को वरदा की कहानी के माध्यम से अपने जीवन की समस्याओं को स्पष्ट कर देती है।

निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि नाटक में प्रतीक द्वारा विचार-अर्पण के प्रयोग में नाटककार बहुत अंशों में सफल हुआ है।

(२) मुक्ति का रहस्य

वस्तुपक्ष

नाटककार को इस नाटक में यथार्थवाद एवं बुद्धिवाद (मिश्रजी का तथाकथित बुद्धिवाद) का प्रेषण अभीष्ट है। उन्होंने इसके लिए स्वच्छन्द प्रेम और आदर्श प्रेम के ऊपर यथार्थ प्रेम अर्थात् विवाह की विजय दिखलाई है।

विचार प्रेषण के लिए नाटककार ने दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं एक रोमांसवाद का जिसकी प्रतीक है आशादेवी और दूसरा आदर्शवाद एवं व्यक्तिवाद का जिसका प्रतीक है उमाशंकर शर्मा। दोनों पक्ष अपने-अपने सिद्धान्त की सीमाओं को स्पर्श करने के कारण असफल रह हैं।

आशादेवी उमाशंकर से प्रेम करती है और इस प्रेम में एकाधिकार स्थापित करने के लिए उसकी पत्नी को विष देती है यद्यपि इस प्रेम के प्रतिदान में उसे उमाशंकर की ओर से कोई भी संकेत नहीं मिलता। वह स्वयं स्वीकार करती है "मैंने अपना हृदय निकाल कर तुम्हारे चरणों पर रख दिया पर तुमने उसका मान नहीं किया। जिस समय मैं तुम्हारे प्रेम के लिए, तुम्हारी मुस्कराहट के लिए, तुम्हारे स्पर्श के लिए या स्त्री अपने पुरुष से जो कुछ चाहती है उसके लिए मरी जा रही थी उस समय तुम मेरा सम्मान करते थे, मेरी प्रशंसा करते थे। मेरे सामने उस तरह आते थे जैसे लोग अस्पताल में आते हैं।"[1]

इस प्रकार प्रतिपक्ष से किंचित प्रेम भी न पाकर इतना घृणित कुकर्म करना रोमांसवाद की पराकाष्ठा ही कही जायगी। इसके अतिरिक्त परिस्थिति से विवश होकर प्रणय को मोल लेने के लिए सतीत्व को बेच देना रोमांसवाद की सीमा को भी लाँघ जाना होगा। जीवन के साथ रोमांस की इस अतिशय भावुकता का सामंजस्य किस प्रकार होता। अतः वह अपने कर्म का प्रायश्चित करती है और विष खाकर आत्महत्या करने का प्रयास करती है। रोमांस के इस पक्ष का निष्कर्ष है—रोमांस का अन्त है आत्महत्या।

दूसरा पक्ष है आदर्शवाद। उमाशंकर आशादेवी से प्रेम करता है परन्तु

---

१ मुक्ति का रहस्य पृ० १४२

उसके प्रेम की कल्पना इतनी ऊँची है कि अध्यात्म की सीमा को स्पर्श करती है। इस प्रेम के लिए वह समाज की परवाह नहीं करता बाबा के मानापमान कुल की लाज आदि की उसे चिन्ता नहीं और वह लाखों की सम्पत्ति भी छोड़ने को तैयार हो जाता है। इसका त्याग उस प्रेम के लिए है जिसमें भौतिकता नहीं है और प्रेमिका के स्वच्छन्द विचरण की भी पूरी छूट है। प्रेम की पराकाष्ठा तब लक्षित होती है जब वह प्रेमिका को पत्नी की हत्यारिन होने पर भी क्षमा करने को तैयार है। परन्तु अन्त में प्रेमिका द्वारा ही प्रेम ठुकरा कर नाटककार स्पष्ट कर देता है कि इतने महँगे भाव से खरीदा गया प्रेम भी अध्यात्म की सीमा में पहुँच जाने के कारण प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए यथार्थ की सीमा पर मनुष्य बनना पड़ेगा देवता नहीं। नाटक का अन्तिम वाक्य कि "देवता का स्वभाव है अलग रहना' आदर्शवाद के ऊपर एक कठोर व्यंग्य है।

इन दोनों चित्रों के दुःखद परिणाम बताने के पश्चात् नाटककार ने एक तीसरा चित्र यथार्थवाद का दिया है। मायादेवी विष निकाल दिए जाने पर पुनः जीवित हो जाती है और अब रोमांस को छोड़कर जीवन के साथ समझौता करती है। डाक्टर भी उसके विष-ग्रहण से प्रभावित होकर प्रायश्चित्त करता है, उसके मन का मैल धुल जाता है और वह सच्चे दिल से क्षमा माँगता है। माया भी देवता को अपवित्र न करने के लिए डाक्टर के मानवीय गुणों से अभिभूत होकर उसे ही जीवन-साथी बनाने का फैसला करती है। इस प्रकार नाटककार ने आदर्शवाद और स्वच्छन्दवाद के ऊपर यथार्थवाद की विजय दिखलाई है।

दूसरा विचार जिसका प्रेषण नाटककार को अभीष्ट है वह है बुद्धिवाद जिसमें मिश्रजी के अनुसार एक प्रमुख तत्त्व है अपने पाप को स्वीकार करना उसे छिपाने की अपेक्षा खोलकर सबके सम्मुख रखना। इससे उनके अनुसार समस्या सुलझाने में सहायता मिलती है। इसका प्रतिपादन उन्होंने लगभग सभी नाटकों में किया है। इस नाटक में भी मायादेवी अपनी समस्या को बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सुलझाती है। वह अपने पाप को छिपाने की अपेक्षा उमाशंकर के सम्मुख खोलकर बताती है और पाप में अपना दोष स्वीकार करती है। उमाशंकर जो डाक्टर को मारने के लिए दौड़ने लगता है उसके तर्कों के सम्मुख विवश हो जाता है। इस प्रकार इस गम्भीर एवं उलझी हुई समस्या का वह बुद्धिवाद के द्वारा सफलता से समाधान करती है।

इन विचारों के अतिरिक्त नाटक में धर्मपरायण नारी आदि विषयों पर भी प्रासंगिक रूप से विचार किया गया है परन्तु उनका विशेष महत्त्व नहीं।

शिल्प-पक्ष

कथानक-विन्यास

कथानक की दृष्टि से यह नाटक मिश्रजी के सभी नाटकों से अधिक सफल है। इसमें वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जो एक सफल कथानक के लिए आवश्यक कही जा सकती हैं।

कथानक का धरातल कर्म-जाल के सिद्धान्त पर आधृत है इस कारण इसमें रोचकता का समावेश स्वाभाविक रूप से हो गया है। आशादेवी ने उमाशंकर के प्रेम पर एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए एक अक्षम्य कर्म किया। इसके द्वारा वह उमाशंकर की पत्नी का स्थानापन्न बनना चाहती थी। परन्तु इस कर्म के पश्चात् वह स्वयं ही इस कर्मजाल में बँध जाती है। उसे अपने कर्मों का फल अपने शत्रु—उमाशंकर की पत्नी की ओर से नहीं मिलता, परन्तु कर्म-न्याय सिद्धान्त (theory of nemesis) के कारण ही मिलता है। इस प्रकार कथानक के ठोस आधार के कारण कथानक का संगठन सफल कहा जायगा।

इस कथानक की दूसरी विशेषता है अन्विति। मिश्रजी के पूर्ववर्ती नाटकों में इसका अभाव था। यद्यपि नाटककार ने दो सर्वथा भिन्न चित्रों का नियोजन किया है परन्तु दोनों परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि कहीं भी उनमें पृथकता नहीं दिखाई देती। इंजेक्शन आदि के प्रसंग कुछ अप्रासंगिक कहे जा सकते हैं परन्तु उमाशंकर के चरित्र की महत्ता एवं आदर्श-परायणता बताने के लिए वे आवश्यक ही हैं।

कथानक विन्यास क्रम की दृष्टि से भी सफल है। यद्यपि आशादेवी का घृणित कर्म नाटक से पूर्व ही हो चुका है परन्तु नाटककार ने पहली ही दृष्टि में सम्पूर्ण आवश्यक विवरण पाठक के सम्मुख स्पष्ट कर दिया है। इसके पश्चात् कथा ज्यों-ज्यों बढ़ती है पाठक उसे ग्रहण करता जाता है। दूसरे अंक में उलझन बढ़ती है और तीसरे अंक में नाटककार समाधान प्रस्तुत करता है। वस्तुतः दो भिन्न चित्रों को एक कथानक में बाँधकर उसके विन्यास का सफल क्रम नाटककार की कुशलता का परिचायक है।

कथानक में नाटकीय स्थितियों की संयोजना भी बड़े कुशल ढंग से की गई है। प्रथम अंक में डाक्टर और आशादेवी का वार्तालाप, दूसरे में विष खाने की स्थिति और तीसरे अंक में उमाशंकर तथा आशादेवी का वार्तालाप तनावपूर्ण एवं कौतूहलवर्धक स्थितियाँ हैं। इसके कारण रोचकता में भी विशेष वृद्धि हुई है। नाटक का कथानक असाधारण घटनाओं पर आधृत होने के कारण कथानक

में रोचकता आदि गुणों का सहज समावेश हुआ है।

कथानक को प्रभविष्णु बनाने के लिए भाव का आधार सबसे प्रबल है। भाव का जितना अधिक विस्तार होगा नाटक उतना ही हृदयस्पर्शी होगा। इस नाटक के कथानक म पारिवारिक स्थितियों की उन भावनाओं को आधार बनाया गया है जो अत्यन्त कारुणिक होने के कारण हृदय को स्पर्श करती हैं। मनोहर का अपनी माँ की स्मृति में वात्सल्यपूर्ण बातें करना विशेष रूप से हृदय को द्रवित करता है।

चरित्र-चित्रण

नाटक में मुख्य चरित्र दो हैं—उमाशंकर और मायादेवी। दोनों ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य क अन्तर्गत असाधारण चरित्र हैं परन्तु इनके चरित्र का निर्वाह नाटककार न बड़ी कुशलता से किया है। उसके पूर्ववर्ती नाटकों के पात्रों की भाँति पात्र व्यक्तित्वहीन नही हैं। उनके कार्यकलाप एव संवाद उनके चरित्र के अनुरूप हैं।

नाटक के सीमित आकार और सीमित साधनों के कारण स्थिर चरित्रों का चरित्रांकन ही अधिक सफलता से हो सकता है। गतिशील चरित्रों के उत्थान पतन को तो उपन्यास में ही अधिक सफलता से दिखाया जा सकता है। इस नाटक म उमाशंकर का चरित्र स्थिर है इसीलिए उस दिखाने में नाटककार पूर्ण तया सफल है। मायादेवी का चरित्र गतिशील है। यह विकास अर्थात् विचारों में परिवर्तन विष खाने के उपरान्त ही हुआ था अत उसका भी विष खाने से पूव का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है। उसक पश्चात् यद्यपि उसके परिवर्तन के लिए वातावरण बनाया गया है परन्तु फिर भी इतन बड़े परिवर्तन को दो-चार पृष्ठों के तर्कों द्वारा दिखाना समुचित नहीं कहा जा सकता।

चरित्रों में अन्तर्द्व न्द्व का आकलन बड़ी कुशलता से किया गया है। माया देवी के चरित्र में द्वन्द्व का रूप बड़ा स्पष्ट है। उसके भीतर का देव-दानव-युद्ध बालक मनोहर से बातचीत करते हुए स्पष्ट मुखरित होता है। उमाशंकर का चरित्र आदर्श होने के कारण उसमे अन्तर्द्वन्द्व कम दिखाया गया है परन्तु यह उसकी शालीनता और गरिमा क अनुरूप ही है।

चरित्रों के सफल चित्रण का एक कारण उनकी असाधारणता भी है। असाधारण व्यक्तियों के चरित्र म ही नाटककार को अपने कौशल का परिचय देने का अधिक अवकाश रहता है। मायादेवी और उमाशंकर दोनों असाधारण पात्र हैं।

चरित्रांकन म नाटककार ने मानवीय सहानुभूति का त्याग नहीं किया।

उसने पापी से घृणा नहीं की केवल पाप से की है। मायादेवी ने पाप अवश्य किया है परन्तु मनोहर के साथ कारुणिक वार्तालाप में वह हमारी सहानुभूति की पात्र है। हम उससे घृणा नहीं करते प्रत्युत उसकी शोचनीय स्थिति पर करुण हो उठते हैं।

उमाशंकर के चरित्र में कुछ विचित्रताएं हैं जो पाठक का ध्यान आकृष्ट करती हैं। उमाशंकर जैसे सच्चरित्र पात्र के प्रति नाटककार आरम्भ से सहानुभूति बनाए रखता है। असाधारण त्याग और निश्छल सेवा से वह पाठक की श्रद्धा का विषय बन जाता है। ऐसे निष्कपट और आदर्श चरित्र वाला व्यक्ति अन्त में किस प्रकार की कारुणिक स्थिति में पहुँच जाता है देखकर पाठक के मन में उद्वेलन होता है और वह सोचने लगता है क्या त्याग सेवा निःस्वार्थता का फल यही है? वास्तव में यदि नाटककार को इसका अन्त कारुणिक दिखाना था तो आरम्भ में ही उसके चरित्र में वैसे संकेत देने आवश्यक थे। परन्तु वैसा न होने के कारण चरित्र काव्य-न्याय की दृष्टि से असंगत ही कहा जायगा।

उमाशंकर के चरित्र में एक विचित्रता यह भी है कि वह व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक होते हुए भी सामाजिक कार्यकर्ता है। परन्तु नाटककार ने इन दोनों विरोधी गुणों का सामञ्जस्य बड़े सुन्दर एवं सफल ढंग से किया है।

बालक मनोहर का चरित्र उसकी कारुणिक स्थिति के कारण सबसे सुन्दर बन पड़ा है। यद्यपि बाबा काशीनाथ का चरित्र वर्गगत विशेषताओं से युक्त है परन्तु एक अस्वाभाविकता भी खटकती है कि इतने धनी और मानी व्यक्ति ने क्या केवल रुपए के लालच में आकर अपने भतीजे से भी प्रिय पोते को गोदी में न बैठाकर गाड़ी में नौकरों के कमरे में बैठा दिया और उसका इतना भी ध्यान न रखा कि वह गाड़ी में बैठा है या छूट गया है। उसके चरित्र की यह अस्वाभाविकता नाटककार की चरित्र-चित्रण शैली में दोष कहा जायगा।

इसी प्रकार का एक दोष मायादेवी के चरित्र चित्रण में भी विद्यमान है। वह यह निश्चय हो जाने पर भी कि डाक्टर उमाशंकर को सारी बात कह देगा भयभीत होने के स्थान पर तर्क करती है। वस्तुतः नाटककार ने उसके चरित्र में इतने बड़े परिवर्तन के लिए अपेक्षित अन्तर्द्वन्द्व एवं वातावरण का निर्माण नहीं किया।

इन कतिपय दोषों के बावजूद चरित्र चित्रण में नाटककार अपने पूर्ववर्ती नाटकों से अधिक सफल हुआ है।

संवाद

संवाद का उपयोग नाटक में दो दृष्टियों से होता है कथानक को गति देने

में और चरित्र-चित्रण के लिए। इस नाटक के संवादों में यह दोनों विशेषताएँ विद्यमान हैं।

कथा में उत्सुकता को बनाए रखने के लिए एक ही अंक के भिन्न-भिन्न प्रसंगों को मिलाने के लिए कई बार नाटक को कुछ निरर्थक संवादों की योजना करनी पड़ती है जो कि कथा-संगठन में दोष माना जाता है। इस नाटक के संवादों में इस दोष का अभाव है।

संवाद में स्वाभाविकता एवं यथार्थता होने पर भी उसमें एक अपेक्षित गरिमा एवं शालीनता की रक्षा की जाती है, जिसके कारण वह कृति साहित्य में अपना स्थायी स्थान प्राप्त करती है। इस नाटक में मनोहर और नौकर के संवादों में भी संवाद का अपेक्षित स्तर विद्यमान है। 'मनोज' और 'संन्यासी' के संवादों में सर्वत्र यह गुण विद्यमान नहीं।

संवाद की गरिमा एवं स्वाभाविकता लम्बे भाषणों की अपेक्षा संक्षिप्त वाक्यों और वार्तालाप की शैली में अधिक होती है। एक आलोचक ने नाटक के संवादों की तुलना फुटबाल के खेल से की है जिसमें गेंद जितने अधिक पाँवों से आगे बढ़ती है उतना ही खेल सफल माना जाता है। इसी प्रकार नाटक में संवाद जितने अधिक छोटे होते हैं, उतना ही संवाद सफल माना जाता है। इस नाटक के संवाद इस दृष्टि से भी सफल हैं। अधिकांश संवाद पाँच-सात शब्दों के ही हैं। बैनीमाधव और उमाशंकर के वार्तालाप में जहाँ संवाद लम्बे भी हो गए हैं वहाँ भी प्रवाह में शिथिलता नहीं है।

नाटककार ने इस नाटक में संवादों की योजना भी ऐसे कुशल ढंग से की है कि अन्तर्द्वन्द्व संवाद के माध्यम से स्वतः स्पष्ट हो जाय। विष खाने से पूर्व मायादेवी के हृदय के द्वन्द्व को ऐसे सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया है कि वह कहना भी नहीं चाहती और कहती भी जा रही है।

मायादेवी—"आप जानते नहीं। इस डाक्टर ने आपकी कितनी हानि की।"

उमाशंकर—"मेरी हानि डाक्टर ने।"

मायादेवी—'हाँ जिस दिन आप जानेंगे।"

उमाशंकर—"मुझे भी।"

मायादेवी—"मैं नहीं कहूँगी शायद कहने के पहले मेरी जीभ गिर पड़ेगी।"

उमाशंकर—(ध्यान से उसकी ओर देखने लगता है माया सिर नीचे कर बैठी है) "बात क्या है? इस तरह काँप क्यों रही हो? जहाँ तक मैं जानता

है डाक्टर ने कोई बुराई नहीं की मेरी।

आशादेवी—(साँस खींचकर) ईश्वर करे यही सच हो   पर कैसे ? जो मैं यह कह पाती।"[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस नाटक के संवादों में वे सभी गुण विद्यमान हैं जो सफल नाटक के संवाद में अपेक्षित हैं। संवाद की दृष्टि से यह नाटक मिश्रजी के सभी नाटकों से अधिक सफल है।

वातावरण की दृष्टि से भी इसमें प्रसंगानुकूल गाम्भीर्य की रक्षा की गई है। बौद्धिकता के प्रभाव के कारण कहीं भी जटिलता एवं दुरूहता नहीं आने पाई। पाठक का मन कथा के साथ समरस होकर चलता है। अन्य सामाजिक नाटकों में किसी में भी यह गुण इस मात्रा में नहीं है।

अभिनय की दृष्टि से भी यह नाटक सबसे अधिक सफल है। अभिनय वास्तव में कथा-संगठन चरित्रों की स्वाभाविकता और संवादों के प्रवाह पर निर्भर करता है। इसमें कथा-संगठन चरित्र और संवाद सभी अभिनय के अनुकूल हैं। स्वगत जैसे साधन को अस्वाभाविक मानकर छोड़ देने पर भी नाटककार पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने में सफल हुआ है। अंक-विभाजन और दृश्य-परिवर्तन भी अभिनय के अनुकूल है। कथा का दृश्य भाग इस सफलता से संगठित किया गया है कि सम्पूर्ण कथा तीन अंकों में प्रदर्शित हो गई है। निस्सन्देह बार-बार पर्दा उठाने और गिराने की अस्वाभाविकता से रंगमंच की रक्षा की गई है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि असाधारण घटनाओं एवं असाधारण पात्रों की योजना करके भी नाटककार इस नाटक में अपने विचार-प्रेषण में सफल हुआ है। इसका मुख्य कारण इस नाटक का सफल शिल्प-संगठन है। कथानक चरित्र संवाद और भाव सभी दृष्टियों से नाटक सफल है।

---

१ मुक्ति का रहस्य, पृ० ६४

(३) राजयोग

वस्तुपक्ष

इस नाटक में मिश्रजी ने राज्य रजवाड़ों की कथा के सन्दर्भ में अपने बुद्धिवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। नाटककार ने अपने सभी सामाजिक नाटकों में इस सिद्धान्त का पालन किया है। नाटकों की भूमिकाओं में भी आपने इसका तर्क द्वारा प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त का एक प्रमुख तत्व है—अपने अपराध का स्वीकार कर उसे समाज के सम्मुख प्रकट करते हुए तदनुकूल जीवन का पथ निर्धारित करना। अन्यथा वह मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर जीवन के विकास को रोक देगा। अतः प्रत्येक समस्या की यथार्थता को स्वीकार कर उसके विश्लेषण द्वारा ही उसका निराकरण करना बुद्धिवाद का सिद्धान्त है। इस नाटक का मूल प्रतिपाद्य इसी सिद्धान्त की व्यंजना है। नाटककार के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला राजयोगी नरेन्द्र कहता है— 'सचाई को दबाना ही तो पाप है।'[1]

इस विचार के प्रतिपादन के लिए नाटककार ने एक रजवाड़े घराने का चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें सभी प्रमुख पात्र अपने पाप को भीतर दबाने के कारण क्षुब्ध हैं। उनका पाप उनके लिए मानसिक ग्रन्थि बन गया है जिसने उनके जीवन का विकास गाड़ दिया है। प्रथम पात्र शत्रुसूदनसिंह राजकुमार है। उसने पहली पत्नी के रहते राज्यसत्ता के बल से एक ऐसी लड़की से विवाह किया है जिसकी सगाई मन्त्री के लड़के नरेन्द्र से हो चुकी थी। वह लड़की चम्पा स्वयं भी मन्त्री के लड़के को प्रेम करने लगी थी। इस कारण विवाह होने के उपरान्त भी राजकुमार का जीवन सुखी नहीं हुआ। पाँच वर्ष बीत गए पर वह चम्पा के हृदय को न जीत सका। वह अपने इस अपराध की यथार्थता का स्वीकार कर समस्या के विश्लेषण को तैयार नहीं वह इस बात ो सुनना भी नहीं चाहता इसीलिए दुखी है।

दूसरा पात्र गजराजसिंह है जो राजा के यहाँ एक पारिवारिक नौकर है। इसका बीस वर्ष पूर्व एक ठाकुर की पत्नी से अवैध सम्बन्ध हो गया जिससे एक

---

१ राजयोग, पृ० ११

लड़की भी उत्पन्न हुई। इस पाप के कारण वह बीस वर्ष से उद्विग्न है कि कहीं भेद न खुल जाय और इसी उद्विग्नता के कारण इसने शादी तक नहीं की।

तीसरा पात्र चम्पा है जो हृदय तो मन्त्री के लड़के नरेन्द्र को बचपन में ही समर्पित कर चुकी है। अब शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार अपने ऊपर संयम रखने का पूरा प्रयत्न करती है और नरेन्द्र का नाम भी सुनने से घृणा करती है। अपने पति की हर इच्छा पूर्ण करते हुए भी उसके चित्त में शान्ति नहीं। उसका मन को कृत्रिम रूप से दबाना ग्रंथि बन गया है।

चौथा पात्र रघुराजसिंह मन्त्री है अवस्था पचास वर्ष है। उसे भी एक हृदय विदारक सदमा लगा है। उसका इकलौता जवान बेटा नरेन्द्र पाँच वर्ष हुए घर से भाग गया है और अब उसके न आने पर उसका पुश्तैनी मन्त्री-पद भी छिन जायगा यह आशंका ही उसे उद्विग्न कर रही है। वह स्थिति की यथार्थता को स्वीकार करने को तैयार नहीं।

कथानक में नरेन्द्र राजयोगी के रूप में आता है और योग के बल से गजराज सिंह की सभी गुप्त बातें उसे बतला कर चुप लेता है। रहस्य के प्रकट हो जाने पर गजराजसिंह की सारी उद्विग्नता शान्त हो जाती है और वह स्वीकार कर लेता है कि चम्पा उसकी अवैध सन्तान है। मधुसूदन चम्पा को अवैध सन्तान जान कर पहले घृणा करने लगता है परन्तु समस्या का और अधिक उलझता जानकर बुद्धिवादी दृष्टिकोण से समस्या को सोचकर नरेन्द्र की प्रेरणा से पुनः चम्पा को स्वीकार कर लेता है। चम्पा भी नरेन्द्र को अब योगी के रूप में देखती है और मान लेती है कि वह अब उसे कभी स्वीकार नहीं करेगा तो उसके मन की ग्रंथि भी सुलझ जाती है। रघुराजसिंह भी अपने लड़के की स्थिति को समझ कर फिर पुश्तैनी गद्दी की चिन्ता नहीं करता। इस प्रकार पाप के प्रकट हो जाने से और उस पर यथार्थ दृष्टि से विचार करने के पश्चात् सभी की उद्विग्नता दूर हो जाती है। वे सब स्वीकार करते हैं "हमारे पिछले पाप धो दिए जायें पिछली उजाड़ें नामकर फेंक दी जायें। यह अपने मन में मान लिया जाय कि हम लोगों का जन्म आज हो रहा है। हम लोग पहले नहीं थे जो कुछ था हमारा भूल था हम तख्तों पर हम आज उतरे हैं और आज से ही हम लोगों को अपनी यात्रा प्रारंभ करनी है।"[1]

बुद्धिवाद के इतने प्रबल प्रतिपादन के पश्चात् भी यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि की यह युक्ति क्या हृदय को स्वीकार हो सकती है? क्या कोई भी बात

---

१ राजयोग, पृ ८९

हृदय से निकाल देना सम्भव हो सकता है ? अपने पापों की आड़ में अथवा सभी मनुष्य पापी हैं यह तर्क मानकर जीवन की मूल आवश्यकताओं से समझौता भले ही कर लिया जाय परन्तु क्या उस स्थिति में व्यक्ति उन्नति कर पाता है। इस प्रकार जैसे-तैसे जीवनयापन भले ही हो पर क्या पाप के प्रकट हो जाने के पश्चात् जीवन में महत्त्वाकांक्षा प्रेरणा आदर्श उन्नति की भावना पहले की तरह ही रहेगी ?

इस सिद्धान्त के बारे में दूसरी बात विचारणीय यह है कि पाप का जो भयंकर रूप नाटककार ने दिखाया है वह यथार्थ होते हुए भी असामान्य है। इतना भयंकर पाप वास्तव में मनुष्य नहीं पचा सकता और प्रकट न करने की स्थिति में वह आत्मग्लानि एवं आत्मपीड़ा से विक्षिप्त-सा हो उठता है। परन्तु यदि इसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो क्या मन में आने वाले प्रत्येक साधारण से साधारण पाप को प्रकट कर देना मानव और समाज के लिए हितकर होगा ?

शिल्पपक्ष

कथानक विन्यास

कथानक के चयन एवं संगठन में नाटककार की कुशलता सराहनीय है। कथानक की योजना इस प्रकार की है कि कुल पाँच पात्र हैं और पाँचों की भिन्न भिन्न समस्याएँ हैं परन्तु वह सभी इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि एक गाँठ खुल जाने से सभी की समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

नाटक का कथानक पूर्णतया सुगठित है। कोई भी घटना अथवा पात्र प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता अर्थात् किसी भी अंश को बिना कथानक को क्षति पहुँचाए काटा नहीं जा सकता। और न ही कथानक के संगठन में किसी प्रकार की कोई न्यूनता दिखाई देती है।

नाटक में एक ही सुगठित कथानक होने के कारण कथानक के विकास की गति भी कहीं शिथिल नहीं।

कथानक के विन्यास में अन्विति का पूरा पालन किया गया है। विन्यास क्रम की दृष्टि से भी नाटक सफल है। पहले अंक में सभी की समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं यह प्रारम्भ है। दूसरे अंक में मनोरमसिंह के रोग का निवारण हो जाने के कारण सभी समस्याएँ एक नया रूप धारण कर लेती हैं यह उलझन की स्थिति है। तीसरे अंक में सभी की समस्याओं के समाधान के साथ नाटक समाप्त होता है।

कौतूहल कथा की रोचकता का एक प्रमुख आधार है। इनका निर्वाह भी

नाटक में बड़ी सफलता से किया गया है। प्रारम्भ में ही समस्याओं को स्पष्ट करते हुए नाटककार गजराजसिंह के पाप के छिपाने और अपने को ही सबके दुःख का कारण मानने का इस प्रकार चित्रण करता है कि पाठक उसके अपराध को जानने को उत्सुक हो उठता है। उसका पाप स्पष्ट हो जाने पर भी कौतूहल में वृद्धि ही होती है क्योंकि समस्या और भी उलझ जाती है।

नाटक में द्वन्द्वपूर्ण नाटकीय स्थितियों की भी सुन्दर नियोजना है। यह द्वन्द्व रघुवंशसिंह और मधुसूदनसिंह के मध्य सिद्धान्तपरक है। मधुसूदनसिंह नवीन विचारों के कारण मन्त्री पद के पुश्तैनी अधिकार को नहीं मानता परन्तु रघुवंशसिंह मन्त्री-पद के छिन जाने के विचार से ही विक्षिप्त-सा हो जाता है। इसी प्रकार चम्पा और मधुसूदनसिंह में समझौते से पूर्व द्वन्द्व के अतिरिक्त अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता ने भी नाटकीय स्थिति को अधिक आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण बनाया है। रघुवंशसिंह गजराजसिंह मधुसूदनसिंह और चम्पा सभी के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व है। वस्तुतः यह अन्तर्द्वन्द्व ही अपनी भयंकरता के कारण उनकी समस्या बना हुआ है।

कथानक अनेक दृष्टियों से सफल होने पर भी सर्वथा दोष-मुक्त नहीं कहा जा सकता।

कथानक के संगठन में एक दोष जो अन्य सामाजिक नाटकों में अधिक है, इसमें भी न्यून अंश में विद्यमान है। कथानक में किसी ऐसी असाधारण घटना की कल्पना न की जानी चाहिए जो नाटक के मूल प्रभाव को क्षति पहुँचाए। इस नाटक में योग के चमत्कारों की घटना इसी प्रकार की है परन्तु फिर भी गजराज के शब्दों द्वारा जो रहस्योद्घाटन होता है वह इतना अधिक मार्मिक है कि पाठक का ध्यान पुनः मूल कथानक की ओर केन्द्रित हो जाता है।

कथानक में वही घटनाएँ पाठक के हृदय को स्पर्श कर सकती हैं जिनकी कल्पना उसका मन कर सकता है। नरेन्द्र का प्रथम अंक का अभिनय पाठक की समझ में बिल्कुल नहीं आता। राजयोगी की कल्पना साधारण पाठक के मन में नहीं है इसलिए वह कुछ आतंकित और अचम्भितमात्र होकर रह जाता है। मधुसूदन अपने गले पर नरेन्द्र की नंगी तलवार देखकर तनिक भी भयभीत नहीं होता काँपता तक नहीं और फिर योगी उसे अभय दान देता है यह सब तमाशा दर्शक की बुद्धि से बाहर की वस्तु है।

चरित्र चित्रण

चम्पा के अतिरिक्त नाटक के सभी चरित्र विकसित चरित्र हैं। चम्पा के विचारों में परिवर्तन आया। वह पहले हिन्दू पत्नी के आदर्शों के अनुसार

प्राचरण करती है परन्तु बाद में नारी और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों को लेकर देवता मान जाने वाले पुरुष-वर्ग पर कठोर व्यंग्य करती है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया का विस्तृत चित्रण न होने पर भी इस परिवर्तन में अस्वाभाविकता नहीं आ पाई क्योंकि उसके परिवर्तन का आधारभूत कारण प्रबल है। जिस आदर्श को वह पाँच वर्ष तक निभाती आई वह उसे सुखी न बना सका और जिस पति को वह देवता मानकर सर्वस्व अर्पण करती रही वही उसे एकदम छोड़ने के लिए तैयार हो गया। इस प्रकार जब उसके जीवन का प्रश्न ही उलझ गया हो तो उसे जीवन को अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर देखने का सर्वथा अधिकार है। इसके अतिरिक्त उसके गृहस्थ जीवन में असन्तोष एवं अन्तर्द्वन्द्व भी परिवर्तन की भूमिका बन जाते हैं जिसके कारण पाठक को इतना बड़ा परिवर्तन भी अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

गजराजसिंह रघुवंशसिंह और मधुसूदनसिंह विकसित चरित्र हैं। तीनों का चरित्र एकहरा और सरल है परन्तु परिस्थिति के द्वन्द्व के कारण इनमें एक विशेष सौन्दर्य आ गया है। परिस्थिति की उलझन के कारण उनके मन में एक तीव्र संघर्ष होता है जिसका चित्रण करने में नाटककार पूर्णतया सफल है। रघुवंशसिंह स्वामिभक्ति को भी निभाना चाहता है और पुश्तैनी मन्त्री-पद की रक्षा भी करना चाहता है। एक भाव से उद्वेलित हो वह राज्य छोड़ देता है और दूसरे भाव से विवश हो वह पुनः लौट आता है। मधुसूदनसिंह स्वार्थी वृत्ति का है वह अपने स्वार्थ के अनुकूल सिद्धान्तों की व्याख्या करता है वह रघुवंशसिंह को धोखा दे सकता है पर गजराजसिंह को नहीं। स्वार्थी व्यक्ति भीरु होता है इस तथ्य का उद्घाटन भी उसके प्रत्येक कार्य द्वारा होता है। वह आधुनिक विचारों और रूढ़िगत विचारों (योगियों का विश्वास) दोनों को ही अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अपनाता है। अन्त में चम्पा को स्वीकार करने में भी उसका दुर्बल हृदय उत्तरदायी है। मधुसूदनसिंह वास्तव में राजकुमार होते हुए भी एक विशिष्ट पात्र नहीं वह दुर्बल हृदय का स्वार्थी व्यक्ति है जो अपने स्वार्थ के अनुकूल अपने सिद्धान्त बनाता है।

वस्तुतः नरेन्द्र गजराजसिंह और रघुवंशसिंह विशिष्ट पात्र हैं परन्तु चम्पा मधुसूदनसिंह की समस्याएँ विचार एवं प्रकृति एक साधारण पुरुष और स्त्री के हृदय का प्रतिनिधित्व करती हैं।

संवाद

संवादों की अभिव्यक्ति सफलता कथानक एवं चरित्र-चित्रण की सफलता पर निर्भर करती है। इस नाटक में भी 'मुक्ति का रहस्य' की तरह संवादों की

सफलता का एक प्रमुख कारण यही है। इसके अतिरिक्त यह मिश्रजी का पाँचवाँ नाटक है। लेखन-शैली में विकास के कारण भी यह प्रौढ़ता आ जाना स्वाभाविक है। इस नाटक में संवाद के वे सभी गुण जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती नाटकों में की जा चुकी है समाविष्ट हैं। संवाद भावाभिव्यंजन में समर्थ हैं और नाटकीय गुणों से युक्त हैं। नरेन्द्र के संवाद तीसरे अंक में कहीं-कहीं लम्बे अवश्य हो गए हैं परन्तु उनसे नाटक के वातावरण में नीरसता नहीं आती। संवादों में बौद्धिकता के अभाव के कारण कहीं भी जटिलता या दुरूहता नहीं है।

संवादों में प्रौढ़ता आ जाने पर भी वे सर्वथा दोषमुक्त नहीं कहे जा सकते। कहीं-कहीं उनमें साहित्यिक गरिमा का अभाव खटकता है। गजराजसिंह को अचेत कर उसके हृदय को वश में करते समय गजराजसिंह और नरेन्द्र का वार्तालाप साधारण स्तर का हो गया है।

अभिनय की दृष्टि से नाटक सफल होने पर भी इसमें एक अभाव खटकता है। नरेन्द्र पाठक के सम्मुख एक योगी के रूप में आता है। नाटककार ने नाटक में योगी के स्थान पर नरेन्द्र लिखकर पाठक को इसका परिचय दे दिया है, परन्तु प्रेक्षक तो इसे योगी के रूप में ही समझता रहेगा क्योंकि दृश्य-रूप में तो उसका रहस्य नाटक के अन्त में ही जाकर खुलता है। इसके अतिरिक्त नरेन्द्र का परिचय आरम्भ में न मिलने पर नाटक प्रेक्षक के लिए दुरूह भी अधिक हो जायगा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मिश्रजी इस नाटक में जहाँ अपने विचार को व्यक्त करने में सफल हुए हैं वहाँ नाटक के रूप में भी यह एक सफल कृति है। श्री अमरनाथ झा के नाटक की भूमिका में उठाए गए प्रश्नों के अनुसार नाटकों के बारे में हमें अधिकार केवल इन प्रश्नों का पूछने का है—'कथा रुचिकर है कि नहीं? चरित्र-चित्रण में कहाँ तक सफलता हुई है? पात्रों का वार्तालाप मनोरंजक है कि नहीं? किसी अंश में अस्वाभाविकता तो नहीं आने पाई? नाटक पढ़ने अथवा देखने पर चित्त पर क्या प्रभाव होता है?'[1] प्रथम चार प्रश्न शिल्पपक्ष के हैं और अन्तिम प्रश्न वस्तुपक्ष के बारे में। जैसा कि ऊपर विवेचन से स्पष्ट किया जा चुका है नाटक दोनों ही पक्षों में बहुत अंशों तक सफल है।

---

१ राजयोग, 'भूमिका', पृ० ५

(ग) समस्या एवं घटना प्रधान नाटक

(१) सिंदूर की होली

वस्तुपक्ष

इस नाटक से पूर्व मिश्रजी ने नाटक के रचना-विधान के लिए दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। एक समस्या-नाटक की शैली जिसके अन्तर्गत 'संन्यासी' को रख सकते हैं। इस शैली में कथानक का विधान इस दृष्टि से किया गया है कि पात्रों को समस्या के पक्ष-विपक्ष में तर्कपूर्ण विवेचन के लिए पूर्ण अवकाश रहे। इसी तर्क वितर्क के माध्यम से वह समस्या के विवेचन द्वारा पाठक की बुद्धि को प्रभावित करते हैं। कथानक का महत्त्व इस शैली में गौण है। दूसरी शैली के अन्तर्गत 'राजयोग' और 'मुक्ति का रहस्य' हैं। इनके कथानक में बौद्धिक तर्क-वितर्क प्रधान नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण कथानक के माध्यम से ही विचार की व्यंजना की गई। परन्तु इन नाटकों में सिद्धान्त एवं विचार का आग्रह इतना प्रबल है कि कथानक को उसके अनुरूप ढालने से कथानक का निजी सौन्दर्य धूमिल हो गया है। ये कथानक अभिरुचि से युक्त होने पर भी रोचक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सफल कथानक नहीं बन पाए। इस प्रकार पूर्व नाटकों की दोनों ही शैलियों में नाटक में रोचकता का जो कि कथानक के स्वाभाविक विकास से उत्पन्न होती है अभाव है।

'सिन्दूर की होली' में नाटककार ने उद्देश्य को व्यंजित करने के लिए इन दोनों शैलियों का प्रयोग किया है परन्तु उद्देश्य का प्रतिपादन सम्पूर्ण कथानक से न करके कथानक के अंशों से किया है। और कथानक के स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण एक मनोवैज्ञानिक एवं रोचक घटना के आधार पर किया है। इस घटना का धरातल है—कर्म-प्रतिफल-न्याय (theory of nemesis)। शेक्सपीयर के अधिकांश नाटक इसी सिद्धान्त के धरातल पर स्थित हैं। मिश्रजी जहाँ अपने पूर्ववर्ती नाटकों में एक-एक शैली को अपनाकर भी कथानक को रोचक नहीं बना सके वहाँ इस नाटक में विभिन्न शैलियों में अपने उद्देश्यों की अभिव्यंजना करते हुए भी रोचक कथानक के निर्वाह करने में सफल हुए हैं। कथानक एवं उद्देश्य के इस सामंजस्य के कारण ही यह नाटक उनके सामाजिक नाटकों में

सर्वश्रेष्ठ है।

नाटककार के इस नाटक में दो उद्देश्य हैं—एक समस्या-चित्रण दूसरे अपने सिद्धान्त (बुद्धिवाद) का प्रतिपादन जिसे वह सभी समस्याओं का मूल समझता है। इन उद्देश्यों के लिए नाटककार ने दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। प्रथम हृदय को प्रभावित करने वाली व्यंजना शैली जिसमें घटना चरित्र एवं समस्या को चित्रित मात्र कर दिया जाता है दूसरी बुद्धि को प्रभावित करने वाली तर्क-वितर्क शैली जिसमें समस्या के कारणों परिणामों आदि से युक्त तक पूर्ण विवेचन होता है। नाटककार ने दोनों ही उद्देश्यों के लिए दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। अतः नाटक में प्रतिपादित उद्देश्यों का अध्ययन मुख्यतः निम्न दृष्टियों से हो सकता है—

व्यंजना शैली के माध्यम से

(क) नाटक में कुछ ऐसे पात्रों की योजना की गई है जिनके जीवन से नाटककार का सिद्धान्त (बुद्धिवाद) स्वतः व्यंजित होता है। मनोजशंकर और माहिर अली ऐसे ही पात्र हैं।

(ख) कुछ घटनाओं की योजना इस ढंग से की गई है कि उलझन के मूल में रहने का एकमात्र कारण नाटककार का सिद्धान्त ही व्यंजित होता है और उस उलझन को सुलझाने वाले पात्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(ग) नाटक में कुछ समस्याओं का चित्रण भी कथानक के विकास के अन्तर्गत स्वतः हो गया है।

तर्क वितर्क शैली के माध्यम से

(घ) नाटककार ने अपने सिद्धान्त का समर्थन जहाँ-तहाँ बौद्धिक तर्कों द्वारा भी किया है।

(ङ) नाटक में तर्क-वितर्क द्वारा भी समस्याओं के कारणों स्वरूपों और परिणामों का विश्लेषण किया गया है। नाटक में एक-दो पात्रों को बुद्धिवादी बना दिया है जो समस्या के तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा पाठक की बुद्धि को समस्या पर विचार करने के लिए प्रवृत्त करते हैं।

कथानक के माध्यम से—

(च) यह अन्तिम उद्देश्य सम्पूर्ण कथानक के मूल में निहित है जो पाठक के मन में बिना आग्रह के एक प्राकृतिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रति निष्ठा को दिग्गुणित करता है। इसमें नाटककार का आग्रह प्रधान न होने के कारण इसका स्वतन्त्र महत्व है। और इसी कारण इस नाटक को समस्या एवं 'समस्या प्रधान नाटक' के नाम से एक अलग वर्ग बनाकर रखना पड़ा है।

इन उद्देश्यों का क्रमशः विस्तार से विवेचन इस प्रकार है—

(क) जैसा कि 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' नाटकों के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि मिश्रजी का जीवन एवं कला विषयक एक निश्चित सिद्धान्त है—बुद्धिवाद। और उसकी व्याख्या भी उनकी अपनी है। इसका प्रतिपादन उन्होंने नाटकों की भूमिकाओं में विस्तार से किया है। वह इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हमें प्रत्येक समस्या के गुणपक्ष एवं दोषपक्ष दोनों का *उद्घाटन निस्संकोच करना चाहिए, इसमें किसी भी प्रकार के सत्य को* (भले ही वह कटु हो) छिपाना श्रेयस्कर नहीं। इस सत्य को यथार्थ दृष्टि से समझने के पश्चात् विवेक के प्रकाश में इससे मार्ग निकालना ही समस्या के स्थायी निराकरण का एकमात्र उपाय है। राजयोग में वे कहते हैं 'सचाई को छिपाना पाप है।'[1] यदि समस्या का समाधान सत्य को छिपाकर आदर्श एवं सभ्यता के भुलावे में किया जायगा तो वह कटु सत्य मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर द्वन्द्व को जन्म देगा जिससे जीवन का विकास रुक जायगा। वह इस कटु सत्य के उद्घाटन को समाज के लिए हितकारी बताते हुए कहते हैं—"बुद्धिवाद में शूगर-कोटेड कुनीन की व्यवस्था है ही नहीं वह तो तीक्ष्ण शस्त्र है। उसका घाव गहरा होता है लेकिन अंग-भंग करने के लिए नहीं मवाद निकालने के लिए, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए।"[2]

इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए नाटककार ने दो पात्रों—माहिर अली और मनोजशंकर की योजना की है। माहिर अली ने दस वर्ष पूर्व मनोजशंकर के पिता की हत्या में योग दिया था। वह इस पाप से खिन्न है। इस पाप को प्रकट करने में उसे फाँसी का भय है, परन्तु रजनीकान्त की हत्या ने इस पाप को पुनः हरा कर दिया और वह विक्षिप्त-सा हो गया। उसे शैतान और भूत दिखाई देने लगे और अन्त में वह इस पाप के रहस्य को प्रकट कर ही अपनी खिन्नता को शान्त कर पाता है। वह स्वयं कहता है "कह दूँगा। कहकर एक बार फाँसी पर जाना रोज की फाँसी से अच्छा है।"[3] पाप के कह देने से उसके सिर का बोझ उतर गया और वह स्वस्थ हो गया।

मनोजशंकर को बतलाया गया था कि उसके पिता ने आत्महत्या की है।

---

१ राजयोग पृ० ६१

२ मुक्ति का रहस्य (भूमिका) पृष्ठ सं० ९

३ सिन्दूर की होली : पृष्ठ [illegible]

सचाई को छिपाए जाने के कारण उसके मन में एक ग्रन्थि हो गई। वह स्वयं स्वीकार करता है "इसी चिंता में मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया मानसिक बीमारी हो गई। रातभर रात को मैं उन्हें स्वप्न में देखता था और सारा दिन उसी स्वप्न की भावना में पड़ा रहता था। पढ़ाई में कभी मेरी तबीयत नहीं लगी किसी तरह विषय तैयार कर परीक्षा पास करता आया। यही बात अगर पहले मालूम होती आज से पाँच-सात वर्ष पहले तो मेरा जीवन इतना नीरस न होता।"[1] "आज मेरी आत्मा का बोझ उतर गया।"[2] इस बोझ के कारण ही वह चन्द्रकला को अपने प्रति आकृष्ट न कर सका था क्योंकि उसके पास रजनी कान्त की मुस्कान का जादू न था उसकी हँसी की कम्पन और मस्ती न थी अपितु उसके मन में विषाद की आग जो जल रही थी।[3]

इन दोनों पात्रों के चित्रण द्वारा कवि व्यंजित करता है कि सचाई को छिपाना मानव-व्यक्तित्व की प्रगति और विकास में बाधक है और मनुष्य को रोगी बना देता है।

(ग) नाटककार ने समस्याओं के सुलझाने पर बुद्धिवादी पात्रों द्वारा समस्या का उचित समाधान करवाया है। नाटककार ने दो पात्रों को बुद्धिवादी अर्थात् बुद्धि के आधार पर स्थिति का विश्लेषण कर उसे चारों ओर से देखभाल कर उससे समझौता करने वाला बनाया है। मनोरमा पूर्णतः बुद्धिवादी पात्र है और नाटककार के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। मनोजशंकर जब प्रेमी के रूप में उसके पास आता है तो वह उसे प्रेम के उत्तर में बताती है कि वह विधवा है इसलिए सांसारिक दृष्टि से उसके साथ प्रेम का कोई स्वरूप नहीं और यदि वह वास्तव में उसे प्रेम करता है तो उस प्रेम का स्वरूप उस प्रकार का हो सकता है जिसमें वासना और विकार नहीं। वह संसार में एक नया आदर्श पैदा करना चाहती है।[4] वह उसे बताती है कि "संसार की समस्याएँ जिनके लिए आज इस इतना शोर मचा है तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं" "वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और बुद्धि से उनका उत्तर भी मिलेगा।"[5] अतः इस दृष्टिकोण को लेकर आत्मा का रस लो मेरे लिए भी औरों के लिए भी।[6] और

१ सिन्दूर की होली, पृष्ठ ४१
२ वही, पृष्ठ ४२
३ वही, पृष्ठ ५८
४ वही, पृ० ३१
५ वही, पृ० ४१
६ वही, पृ० ४१

मनोजशंकर यह सब मान जाता है वह विधवा के साथ विधुर रहकर इस बुद्धि वाद के आदर्श का प्रचार करना स्वीकार करता है।

इसी शिक्षा के पश्चात् मनोजशंकर भी बुद्धिवादी बनकर विषाद का स्वर न बजाकर आनन्द का स्वर बजाता है। मुरारीलाल के दुखी होने पर भी वह बाँसुरी बजाता है[1] क्योंकि वह उस समस्या से खिन्न न होकर बुद्धि की दृष्टि से विचार करता है। वह मुरारीलाल के साथ उसकी लोभ-वृत्ति और इस हत्या पर व्यंग भी करता है।[2] वह उसे पूर्ण विश्लेषण द्वारा समझाता है कि वह चन्द्रकला को क्यों आकृष्ट न कर सका।[3] सारी परिस्थिति को समझना और सत्य को तार-तार करके देखना ही बुद्धिवाद है। इसके बाद वह डाक्टर से भी मानसिक चिकित्सा पर तर्क करता है। वह असत्य को आँख मूँदकर स्वीकार करने को तैयार नहीं। तत्पश्चात् मनोरमा के यह स्पष्ट कर देने पर कि तुम्हारा मेरे साथ अविवाहित रहना प्रकृति के प्रतिकूल है और तुम्हारी इस प्रतिज्ञा का कारण तुम्हारा मोह था और इस तरह तुम्हारा विकार बना रहेगा। उचित यही है कि तुम चन्द्रकला को ग्रहण कर लो वह बुद्धिवादी होने के कारण स्वीकार कर लेता है। स्पष्ट है कि दोनों पात्र बुद्धिवादी हैं।

इन दोनों बुद्धिवादी पात्रों द्वारा किए गए सभी कार्यों को सफल दिखलाकर नाटककार यह सिद्ध करना चाहता है कि क्योंकि बुद्धिवाद के आधार पर किए गए समस्याओं के समाधान सफल होते हैं इसलिए बुद्धिवाद उचित दृष्टिकोण है। मनोजशंकर चन्द्रकला की चिकित्सा में पूर्ण सफल दिखलाया गया है यद्यपि चन्द्र कला का उसी समय उठकर आना कुछ अस्वाभाविक सा भी लगता है। मनोरमा चन्द्रकला (मुरारीलाल की लड़की) की समस्या का उचित समाधान मनोजशंकर को केवल समझाकर ही कर देती है। मुरारीलाल इस सारी बात को चोरी से सुनकर मान जाता है और घोषित करता है कि "तुमने (नाटककार की व्यंजना में बुद्धिवाद ने) वह कर दिया जिसकी मुझे आशा नहीं थी। इस वर्ष की फाग शायद अब सूझेगी।"[4] इस प्रकार नाटककार ने दोनों बुद्धिवादी पात्रों को प्रत्येक स्थान पर सफल दिखलाया है। केवल एक स्थान पर मनोजशंकर असफल

---

१ सिन्दूर की होली, पृ० २४
२ वही पृ० ३३
३ वही, पृ ५८
४ वही पृ० ६०
५ वही पृ ७०

हुआ है वह चन्द्रकला की सेज पर ले जाने के पश्चात् भी बुद्धिवाद के द्वारा उसके हृदय को जीत नहीं सका। उसके लिए भी नाटककार ने तर्क दे दिया है वह अभी पूरा बुद्धिवादी नहीं है मनोरमा के सिखाने से समझता है। मनोरमा ने बताया था कि उसे क्षमा करना पहले तुम यह स्वीकार कर लो कि तुम भी मोह में हो और वह भी मोह में है न तुम उससे अच्छे और न वह तुमसे बुरी है।[1] परन्तु वह इसका पूर्णतया पालन न कर सका। चन्द्रकला बताती है "मनोज सब तरह से योग्य हैं, लेकिन उनके भीतर एक प्रकार का सन्देह एक प्रकार का अन्धकार है जो मैं समझ नहीं सकती।[2] स्पष्ट है कि वह अभी पूर्णतया बुद्धिवादी नहीं बना इसके लिए उसकी मानसिक ग्रन्थि उत्तरदायी है। इस प्रकार जहाँ प्रथम में बुद्धिवाद से रहित पात्रों की असफलता का चित्रण कर सिद्धान्त के निषेधात्मक रूप का प्रतिपादन किया है वहाँ इसमें बुद्धिवादी पात्रों की सफलताओं का चित्रण कर सिद्धान्त के विधेयात्मक रूप को पुष्ट किया गया है।

(ग) तीसरे उद्देश्य में केवल उन्हीं समस्याओं का विचार किया गया है जिनका चित्रण नाटककार ने व्यंजना से किया है। प्रत्यक्षतः मौखिक तर्क द्वारा विवेचित समस्याओं को बाद में लिया जायगा। व्यंजना द्वारा विवेचित समस्याएँ दो हैं—कानून द्वारा सुरक्षा की समस्या और विधवा-समस्या।

कानून द्वारा सुरक्षा की समस्या—कानून द्वारा सुरक्षा की समस्या को नाटककार ने बड़े विकराल रूप में पाठक के सम्मुख रखा है। पचास हजार रुपये लेकर एक ऐसे भोले-भाले व्यक्ति की हत्या करवा देना जिसका इसके सिवाय कोई अपराध नहीं कि उसके पिता का देहान्त हो गया है और वह एक लोभी वृत्ति वाले जमींदार का पट्टीदार है। समस्या का एक भयंकर पहलू यह भी है कि वह लड़का न्यायालय में जाकर अपनी रक्षा के लिए अदालत को उत्तरदायी भी बना गया है।[3] और उसका अन्य कोई भी अपराध सिद्ध करने के लिए भी प्रमाणित नहीं किया जा सका।[4] इस निर्मम अत्याचार को देखकर पाठक का हृदय इस समस्या की भयंकरता से क्षुब्ध हो उठता है।

विधवा समस्या—नाटककार ने इस समस्या के अन्तर्गत विधवा के केवल

---

१ सिन्दूर की होली पृ० ७०
२ वही पृ० ८
३ वही, पृ० ३
४ वही, पृ० २७

उसी रूप को चित्रित किया है जबकि वह स्वयं पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं। उस का जीवन-निर्वाह पुरुष की उद्दाम वासना से किस प्रकार सुरक्षित रहे ? मनोरमा बाल विधवा है। यौवनावस्था में उसके लिए समाज में रहने का कोई स्थान नहीं। चालीस वर्ष के मुरारीलाल की कुदृष्टि से भी वह सुरक्षित नहीं। उसने जीवन यापन के लिए कला को आधार बनाया वह चन्द्रकला को चित्र-कला सिखाने लगी। परन्तु कला भी उसके वैधव्य की रक्षा में असमर्थ है। उसी के शब्दों में "केवल अपने को भूल जाने के लिए मैंने अब तक रंग और कलम से खिलवाड़ किया है   लेकिन मैं देखती हूँ कि मेरा हृदय अभी सूखा जा रहा है अपने निर्जीव चित्र के लिए मैं सदैव जीवन की कामना करती रही   उसके साथ मुझे एक प्रकार का सुख और सहवास मिला है लेकिन मुझे इसका अधिकार कहाँ था ? मैं अपनी आत्मा बेचती रही हूँ जो मैं पहले ही बेच चुकी थी और पूरा मूल्य भी न लिया था।"[1] इसलिए उसने रंग और कूची फेंककर सर्टिफिकेट पाकर मास्टरी लेने का विचार किया है। इस प्रकार यह समस्या उसी विधवा की है जो अपना वैधव्य को आदर्श रूप में निभाना चाहती है।

(ग) इस वर्ग के अन्तर्गत उद्देश्य के अभिव्यंजन के लिए नाटककार ने तर्क वितर्क के माध्यम को अपनाया है। वस्तुतः बुद्धि को प्रभावित करने वाला यह तर्क-वितर्क ही समस्या-नाटक का प्राण है। इस तर्क-वितर्क का प्रयोग नाटककार ने दो दृष्टियों से किया है—प्रथम सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए द्वितीय समस्या के विवेचन के लिए। सिद्धान्त का प्रतिपादन नाटककार ने समस्या-विवेचन के अन्य कई तर्कों से किया है परन्तु उनका महत्त्व समस्या के विवेचन के आधीन ही माना जाना चाहिए। ऐसे तर्क सभी समस्याओं के विवेचन में मिल जाते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"संसार की समस्याएँ   जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं   वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।"[2]

(घ) नाटककार ने प्रमुख रूप से तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन द्वारा समस्याओं के विश्लेषण को ही उद्देश्य-रूप में ग्रहण किया है इसलिए उसने मुखपृष्ठ पर नाटक के नाम के साथ समस्या-नाटक लिखा है।

जैसा कि पहले भी विवेचन किया गया है नाटक में जिन पात्रों की योजना

१ सिन्दूर की होली पृ. ६६
२ सिन्दूर की होली पृ. ७१

की गई है वे ही समस्याओं की मीमांसा करते हैं। वे जहाँ-जहाँ उलझन देखते हैं वहीं तर्क द्वारा उसका विश्लेषण करते हैं जिससे नाटक में कई समस्याओं का समावेश हो गया है। सारे नाटक को एक मूल समस्या पर केन्द्रित करना अनुचित है। नाटककार ने तीन समस्याओं पर बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा प्रकाश डाला है।

चिरंतन नारीत्व की समस्या—प्रथम एवं मुख्य समस्या है चिरन्तन नारीत्व की समस्या अर्थात् नारी की प्रकृति का सच्चा स्वरूप स्वच्छन्द प्रेम—जिसमें नारी-स्वातन्त्र्य की दुहाई दी जाती है अथवा मर्यादित विवाह में जिसमें सामाजिक मर्यादाओं के अनुरूप नारी को अपने मन की अपेक्षा समाज की इच्छा के अनुकूल समर्पण करना पड़ता है। यद्यपि यह समस्या एक शाश्वत समस्या है परन्तु भारतीय सामाजिक जीवन पर पाश्चात्य जीवन-दर्शन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इसका विश्लेषण सामयिक महत्व ही अधिक रखता है।

समस्या के चित्रण एवं विवेचन की सफलता समस्या के पक्ष एवं विपक्ष में दिए जाने वाले तर्कों की गहनता पर आधृत होती है। साधारण परिस्थिति में इतना गहरा विवेचन नाटक के लिए अस्वाभाविक होता और नाटक वाद-विवाद गोष्ठी का प्रतिरूप बन जाता। इसलिए नाटककार ने गहरे विवेचन का अवकाश निकालने के लिए तथा स्वाभाविकता को स्थिर रखने के लिए दो ऐसे असामान्य पात्रों की योजना की है जो दो विरोधी आदर्शों की सीमाओं को स्पष्ट करते हैं। मनोरमा बालविधवा है वह स्वयं अपने प्रिय के प्रेम को वैयक्तिक अनुभूति की अनुपस्थिति में भी प्रिय की कल्पना कर सामाजिक आदर्शों के अनुकूल निर्वाह करती है। वह अपने मन को संयम द्वारा सामाजिक मर्यादाओं के मार्ग पर चलाती है। दूसरी ओर चन्द्रकला सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना कर अपने मन की अनुभूति एवं परितोष को ही प्रायश्चित्त देती है। एक ओर सामाजिक मर्यादा (रूढ़ि) की पराकाष्ठा है तो दूसरी ओर वैयक्तिक परिताप की। इसी को नाटककार ने चन्द्रकला के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"तुम्हारी मजबूरी पहले सामाजिक और फिर मानसिक हुई मेरी मजबूरी प्रारम्भ में ही मानसिक हो गई।"[1] इस प्रकार दो सीमाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों द्वारा नाटककार ने ऐसी परिस्थिति का संयोजन किया है जिसमें समस्या का गहराई से विचार होने पर भी नाटकत्व की हानि नहीं हुई।

इस समस्या के विश्लेषण में नाटककार ने समस्या के लगभग प्रत्येक पहलू

---

१ सि दू र की होली, पृ० ८०

को उलट-पलटकर देखा है। जहाँ तक प्रेम के भीतर प्रकृतिगत सचाई है वह स्वीकार करता है प्रेम करना विशेषतः स्त्री के लिए कभी बुराई नहीं स्त्री-जाति की स्तुति केवल इसलिए होती है कि वह प्रेम करती है प्रेम के लिए ही उसका जन्म होता है स्त्री चरित्र की सबसे बड़ी विभूति उसका सबसे बड़ा तत्त्व प्रेम माना गया है। "प्रेम बकील से राय लेकर जज से अधिकार-पत्र लेकर तो किया नहीं जाता जो बात स्वतः स्वभाव है प्रकृति है वह तो चरित्र का गुण है अवगुण नहीं।"[1] परन्तु इस प्रेम में सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना कर केवल मनसुख के आग्रह से संयम को छोड़ देना ही समस्या अर्थात् दुःख का उद्भावक है और मन को इस प्रकार जहाँ-तहाँ रूप के लोभ में दौड़ने देना मानसिक व्यभिचार है 'जो शारीरिक व्यभिचार से भी अधिक भयंकर है।'[2] प्रश्न यह है कि चिरन्तन नारीत्व के उदय के नाम पर नारी-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती चिरन्तन पशु-वृत्ति की ओर तो नहीं बढ़ते जाते ?[3] इस समस्या का विस्तार से विश्लेषण करते हुए मिश्रजी स्वच्छन्द प्रेम को रूप का लोभ सिद्ध करते हुए मनोरमा के शब्दों में तर्क देते हैं "वैसी हँसी वैसी मुस्कराहट शरीर की सुन्दरता और उसका विकास "आँखों की बिजली और बालों का उन्माद उस कोटि का इतने बड़े संसार में दूसरा न होगा ? और तुम्हारी चञ्चल प्रवृत्ति कहीं भी न उलझ जायगी।"[4] इसके अतिरिक्त स्वच्छन्द प्रेम अर्थात् लोभ की पाशविक वृत्ति को आदर्श-विहीन सिद्ध करते हुए मनोरमा तर्क देती है यह स्वतन्त्र स्त्रीत्व के नाम पर कल्पना का स्वर्ग भले ही दिखा दे और अराजकता की तरह सम्भव है कुछ समय के लिए व्यवस्था भी मिटा दे परन्तु यह स्वतः व्यवस्था नहीं हो सकता।"[5]

इस प्रकार रूप के लोभ की वृत्ति का जहाँ तर्कपूर्ण खण्डन किया गया है वहाँ प्रेम के वास्तविक स्वरूप विवाह के पक्ष में भी सुन्दर तर्क उपस्थित किए गए हैं। नाटककार का कथन है कि विवाह वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें यज्ञोपवीत वेद-मन्त्र आदि के सामाजिक संस्कारों द्वारा प्रेम में से सन्देह के उन्मूलन की भावना है जिससे नारी-हृदय के प्रकृत विभूति—प्रेम में व्यतिरेक उत्पन्न होने की सम्भावना ही न रहे। इस सामाजिक बन्धन के कारण जिससे

१ सिन्दूर की होली, पृ० ५१
२ वही पृ० ४६
३ वही, पृ० ४६
४ वही पृ० ८५
५ वही, पृ० ८१

का अवकाश कम होता है अतः प्रेम अधिक घनिष्ठ एवं दृढ़ होता है।

समस्या के विवेचन में नाटककार ने दोनों पक्षों को तटस्थ भाव से प्रस्तुत किया है और तर्क भी पर्याप्त दिये हुए हैं अतः इस समस्या के विवेचन में नाटककार की सफलता को स्वीकार करना अनुचित न होगा।

विधवा विवाह-समस्या—दूसरी समस्या जिसका तर्क वितर्कपूर्ण विवेचन किया गया है वह है विधवा विवाह की समस्या। इसका विवेचन मनोजशंकर और मनोरमा के वार्तालाप में हुआ है। मनोरमा बालविधवा है परन्तु वह विधवा-विवाह के पक्ष में वोट नहीं देती। वह विधवा-विवाह को नारी की प्रकृति के प्रतिकूल समझती है क्योंकि इससे प्रेम में एकरूपता के स्थान पर सन्देह के अस्तित्व की स्वीकृति है। विधवा-विवाह को स्वीकार करने का अर्थ है विवाह में प्रेम का आधार मानसिक नहीं प्रत्युत शारीरिक भोग-वासना की तृप्ति मात्र है। विधवा-विवाह से विवाह में मानसिक एकरूपता का खण्डन हो जाने से सन्देहवाद उत्पन्न होगा जो अपने साथ तलाक आदि अन्य बुराइयों को भी प्रश्रय देगा।

नाटककार ने समस्या के विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों पक्षों को तर्क द्वारा पुष्ट किया है। उसने एक ओर विधवा-विवाह से उत्पन्न बुराइयों की ओर संकेत किया है दूसरी ओर विधवा-विवाह के न होने पर समाज के सम्मुख नारी के आदर्श की प्रतिष्ठा होगी इसे भी इंगित किया है। मनोरमा इसी दूसरे पक्ष की विवेचना करती हुई कहती है 'तुम जीवन का विभिपत स्त्री के जीवन का दूसरा पहलू भी समझते हो देखने को उसके भीतर संकल्प है साधना है त्याग और तपस्या है 'यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे लिए गौरव की चीज है।'[1]

वास्तव में इस समस्या का विवेचन केवल आदर्श एवं सिद्धांत के स्तर पर हुआ है व्यावहारिक पक्ष को नाटककार ने उठाया ही नहीं है। नारी में केवल प्रेम ही सत्य नहीं स्वाभिमानपूर्ण जीवन की चाह भी सत्य है। परन्तु फिर भी इस आदर्श पक्ष को तर्कयुक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट कर आदर्श को निश्चित एवं सुदृढ़ कर देना कम महत्त्व की वस्तु नहीं। जीवन की प्रगति में आदर्श का एक विशेष महत्त्व है। वह जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में एक दृष्टिकोण प्रदान करता है। अतः नाटककार का यह प्रयत्न केवल आदर्श पक्ष को लिए होने पर भी स्तुत्य ही कहा जायगा।

---

१ सिन्दूर की होली पृ० ६८

रोगोपचार-समस्या—तीसरी समस्या नाटककार ने रोग के उपचार की उठाई है। किसी भी प्रकार का रोग होने पर बिना कारणों की जाँच के डाक्टर को बुला लेना श्रेयस्कर नहीं क्योंकि मानसिक चिकित्सा प्रणाली के ज्ञान के बिना शारीरिक चिकित्सा प्रणाली अधूरी है और कई बार मानसिक रोग और शारीरिक रोग के बाह्य उपलक्षण समान होने के कारण डाक्टर मानसिक रोग को शारीरिक रोग समझकर रोगी के नीरोग शरीर में दवा के माध्यम से रोग ही भर देते हैं। आधुनिक ऐलोपैथी के डाक्टर केवल शारीरिक *चिकित्सा के ज्ञान से परिचित हैं* इसलिए वे रोग के *निदान* और उपचार में असफल हैं क्योंकि 'अधिकांश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं।'[1] इस विश्लेषण से पाठक का ज्ञानवर्धन होने के साथ उसकी विज्ञान के प्रति निष्ठा को भी ठेस पहुँचती है। विज्ञान की सीमाओं को देखकर वह इसके नवीन आकर्षणों पर, जो अपनी चकाचौंध के कारण बलात् ही उसके मस्तिष्क पर अधिकार करते जा रहे हैं पुनर्विचार के लिए प्रवृत्त होता है।

नाटककार ने रोग के निदान का दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत किया है। रोग के मानसिक कारणों का अनुसन्धान करना और उनकी प्रकृति से प्रतिकूलता समाप्त कर पुनः प्रकृति के निकट आना। मनोजशंकर कहते हैं प्रकृति के रास्ते पर लौट आना नीरोग होना दोनों बराबर हैं।[2]

(च) नाटककार ने इतने बहुमुखी उद्देश्यों और उनकी अभिव्यक्ति के लिए इतनी व्यापक और पुष्ट सामग्री का उपयोग करते हुए भी कथानक के निजी अस्तित्व को विशृंखलित नहीं होने दिया यही इस नाटक की सफलता का रहस्य है।

नाटक के कथानक का मूल आधार है—कर्म प्रतिफल न्याय (theory of nemesis) अर्थात् यदि कोई कर्म किया जाय तो विपक्षी की ओर से छूट जाने पर भी उस कर्म के प्रतिफल से मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त को नाटक के अन्त में नाटककार मनोजशंकर के शब्दों द्वारा स्पष्ट करता है 'प्रतिफल मिलता है न? मेरा और रजनीकान्त का सत्यानाश भी तो"
"हम लोगों ने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं इसमें हममें से किसी का दोष नहीं।"[3]

---

१ सिंदूर की होली, पृ ६०

२ वही पृ ६१

३ वही पृ ६१

नाटक के कथानक का नायक है मुरारीलाल। सारी कथा इसी को केन्द्र मानकर विकसित होती है। शेष पात्र समस्याओं का उद्घाटन अथवा विश्लेषण करते हैं परन्तु सम्पूर्ण कथानक को केन्द्रित नहीं कर सकते।

मुरारीलाल ने इस वय पूर्व लोभ की पाशविक वृत्ति के वशीभूत हो एक पाप किया। दस हज़ार रुपये के लिए अपने मित्र की हत्या कर दी। इसमें वह अपनी सतर्कता के कारण समाज और कानून दोनों के फन्दे से बच गया। लेकिन कर्म-प्रतिफल-न्याय के कारण उसे इसका फल भोगना पड़ा। उसके अपने मन में ग्लानि हुई। आत्मघृणा से अभिभूत हो उसने प्रायश्चित करने का निश्चय किया। उसने मित्र के लड़के को उच्च शिक्षा दिलवाकर दामाद बनाना स्वीकार किया। उसका विचार था "कोई भी बुराई प्रायश्चित से मिट जाती है।"[1] परन्तु कर्मों का प्रतिफल इतने से समाप्त नहीं हुआ। उसका फल उसकी लड़की चन्द्रकला को भी भोगना पड़ा। उसने मनोजशंकर से बार-बार प्रेम के बदले में रुक्षता पाई। वह स्वयं कहती है "इसके बाप की हत्या आपसे हुई और उसका बदला ये लेते रहे मुझसे बार-बार ठोकर मार कर।"[2]

इसके पश्चात् इस सारे काण्ड की दो बार और आवृत्ति होती है। मुरारीलाल की लोभ की वृत्ति पुनः प्रबल हुई और उसने पचास हज़ार रुपये के बदले रजनीकान्त की हत्या का अवसर प्रदान किया। हत्या के इस अपराध में भी मृतक ने उससे कोई बदला नहीं लिया, कानून के पंजे से भी वह मुक्त था परन्तु ईश्वरीय विधान ने उसके संचित कर्मों से उसमें इस पचास हज़ार का बदला चुका लिया। उसकी मान मर्यादा नष्ट हो गई, क्योंकि उसकी लड़की ने अस्पताल में जाकर एक मारे गए लड़के के तलवे सहलाए। वह स्वयं स्वीकार करता है "दुनिया जान गई कि मेरी लड़की अस्पताल में एक मारे हुए लड़के की सहानुभूति में वहाँ तक खिंच गई थी मैं कल किस मुँह से कचहरी जाऊँगा।"[3] दूसरा प्रतिफल और भी घातक निकला उसकी लड़की ने यौवना अवस्था में ही वैधव्य का जामा पहन लिया और अब वह उसके घर में रहना भी स्वीकार नहीं करती। मनोजशंकर जिसे वह लड़कों की तरह पाल रहा था वह भी उसे छोड़ गया। और मुरारीलाल पूर्णतया असहाय अवस्था में शेष रह जाता है। उसे अपने कर्मों का प्रतिफल प्रतिपक्षी की मार से नहीं कर्म-न्याय से ही

१ सिन्दूर की होली, पृ० [illegible]
२. वही, पृ० [illegible]
३ वही पृ० [illegible]

लिया। इस सिद्धान्त का व्याख्यान ही मूल कथानक का कलेवर है, और यही इसके सौन्दर्य का आधार है।

पात्र

नाटक में आए हुए प्रमुख पात्र भी पाठक के हृदय में अपना अक्षुण्ण प्रभाव छोड़ जाते हैं, कई बार तो कथानक भूल जाता है परन्तु पात्र और उनकी प्रकृति अपना गहरा प्रभाव बनाए रखते हैं। इसीलिए पात्रों की विवेचना भी वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत करना समीचीन है।

नाटक में प्रमुख रूप से चार चरित्र हैं—मनोरमा चन्द्रकला मनोजशंकर और मुरारीलाल। इनमें से मुरारीलाल को छोड़ शेष तीनों चरित्र असामान्य हैं और व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत आते हैं। मनोरमा बालविधवा है परन्तु भारतीय आदर्शों की आस्थाता है, बड़ा सुन्दर तर्क कर सकती है और बौद्धिकता में विश्वास रखती है। इस चरित्र की योजना नाटककार ने केवल अपने उद्देश्य की दृष्टि से ही की है, यह चरित्र आदर्श की पराकाष्ठा है।

मनोजशंकर अपने पिता की हत्या का रहस्य न जान सकने के कारण एक विशेष प्रकार की कुण्ठा से पीड़ित है जिससे उसके जीवन का विकास रुक जाता है वह पढ़ नहीं सकता उसे मानसिक रोग हो जाता है खून की उल्टियां तक आती हैं। परन्तु बाद में वह मनोरमा से बौद्धिकता की शिक्षा पाकर जीवन को सन्तुलित कर लेता है चन्द्रकला के प्रेम को पुनः प्राप्त करना चाहता है परन्तु मानसिक ग्रन्थि के प्रभाव के कारण सफल नहीं हो पाता। स्पष्ट है कि वह असामान्य चरित्र है।

चन्द्रकला का चरित्र भी व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत आता है। वह रजनीकान्त के रूप पर मोहित होकर सामाजिक मर्यादाओं की पूर्णतया अवहेलना कर देती है। वह हृदय से अत्यधिक प्रभावित है, और मानसिक अनुभूति को ही विचारों में प्राथमिकता देती है।

तीनों चरित्र व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत होने के कारण चरित्र के रूप में जन जीवन के अधिक निकट नहीं परन्तु इनकी उक्तियां जो कि इनके चरित्र का व्याख्यान करती हैं, जन जीवन के अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं। मनोरमा और *चन्द्रकला क्रमशः* विवेक और हृदय का संस्कार और भावना का समाज और व्यक्ति का अथवा प्राचीन और नवीन का प्रतिनिधित्व करती हैं और इस प्रकार का द्वन्द्व प्रत्येक हृदय में होता है। इन दोनों के व्यक्तित्व के माध्यम से यह द्वन्द्व कुछ अधिक मुखरित करके स्पष्ट किया गया है।

मुरारीलाल का चरित्र वर्ग-प्रतिनिधि चरित्र है उसमें भ्रष्ट वर्ग के मैजिस्ट्रेटी

के सभी अवगुण विद्यमान हैं। वह अपने स्वार्थ के लिए, लोभ-वृत्ति के अधीन होकर न्याय का गला घोंट देता है। लोभ की भाँति उसकी काम-भावना भी उसे अपने अधीन कर कुकर्म करने के लिए प्रेरित करती है। माहिर अली भगवन्तसिंह और हरनन्दनसिंह भी अर्थ के लिए अनर्थ करने में नहीं चूकते। इन चारों चरित्रों के द्वारा नाटककार समाज के उस सम्भ्रान्त वर्ग के चरित्र को अनावरण करने में सफल हुआ है जो समाज में सभ्य शिक्षित एवं सुसंस्कृत कहे जाते हैं।

व्यंग

वस्तुपक्ष में नाटककार के उद्देश्यों की बहुमुखी चर्चा के पश्चात् भी नाटक में आए हुए स्फुट एवं तीव्र व्यंगों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। सम्पूर्ण नाटक में इनकी पर्याप्त संख्या है। उदाहरण के लिए दो तीन व्यंग दिए जाते हैं—

"पुरुष यौवन के लोलुप होते हैं—विशेषतः स्त्रियों के सम्बन्ध में मृत्युशय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़ा लोभ हो जाती है।"[1]

"आजकल का कानून ही ऐसा है। इसमें सजा उसको नहीं दी जाती जो कि अपराध करता है सजा तो केवल उसको होती है जो अपराध छिपाना जानता।"[2]

"यह क्षमा तुम नहीं माँग रही हो। तुमको जो मैंने बी० ए० तक अंग्रेजी आजकल ा दी है तुम्हारी वही पढ़ाई क्षमा माँग रही है। जाओ भीतर की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखलाया जाता है।"[3]

शिल्पपक्ष

कथानक विन्यास

जैसा कि वस्तुपक्ष के विवेचन में सिद्ध किया गया है मूल कथा मुरारीलाल को केन्द्र मानकर ही विकसित हुई है। मुरारीलाल ने एक पाप किया है और उसका उसे प्रतिफल मिलता है। इस कथानक का विन्यास संस्कृत नाट्यशास्त्र की पद्धति पर नहीं आँका जा सकता है क्योंकि इसमें नायक के सम्मुख कोई कार्य नहीं। इसका विन्यास तो पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुरूप हुआ है जिस

---

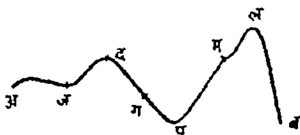
१ सिन्दूर की होली, पृ० ४२

२ वही पृ० ११

३ वही, पृ० ११

प्रारम्भ से अन्त तक द्वन्द्व विद्यमान रहता है और कथा के विकास के साथ इसकी तीव्रता भी बढ़ती जाती है कभी एक पक्ष सफल होता दिखाई देता है तो कभी दूसरा। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुरारीलाल ने यद्यपि दो हत्याएँ करवाई हैं परन्तु मनोजशंकर के पिता की हत्या का रहस्य अन्त में खुलता है इसलिए कथानक के विकास-क्रम की दृष्टि से केवल रमणीकान्त की हत्या का सूत्र ही सम्मुख आता है। अतः उसको ही प्रमुख सूत्र मानना चाहिए।

कथानक का विकास रेखाओं के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—



प्रथम अंक में मुरारीलाल द्वारा दस हजार रुपये स्वीकार करके हत्या के लिए अवसर प्रदान करने तक की स्थिति कथोद्घात (Exposition) है। यह रेखाचित्र में अब की स्थिति है। यह उसका कर्म है।

इसके द्वारा उसे बड़ी सुगमता से दस हजार रुपये मिल गए और चालीस हजार का मिलने का आश्वासन मिला। मुरारीलाल की दृष्टि से यह लाभ की स्थिति है अतः रेखाचित्र में यह स्थिति ब द है, द बिन्दु लाभ का होने के कारण ऊपर है। इसके पश्चात् चन्द्रकला उस मारे गए लड़के पर आसक्त हो गई है यह पुनः हानि हुई अतः रेखा नीचे की ओर घूमती है यह स्थिति ग है। यहीं प्रथम अंक समाप्त होता है। यहाँ तक आकर उलझन स्पष्ट हो जाती है।

द्वितीय अंक में चन्द्रकला की अस्वस्थता के कारण मुरारीलाल के पाप की प्रतिक्रिया स्पष्ट प्रतिफलित होती दिखाई देती है। पाठक को लगता है कि पाप मुरारीलाल को ले डूबा। यह स्थिति प बिन्दु की है। डाक्टर और मनोजशंकर के वार्तालाप में चन्द्रकला की अस्वस्थता का रूप भयंकर प्रतीत होता है।

इसके पश्चात् पुनः कथानक में मोड़ आता है। चन्द्रकला स्वस्थ हो जाती है और मनोजशंकर तथा चन्द्रकला पुनः भावी जीवन के लिए समझौता करते

के लिए मैर पर बस देते हैं। सारी समस्या सुलझ जाती है। मुरारीलाल का पद प्रबल हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका पाप उसे पच गया है यह स्थिति म बिन्दु की है।

इस पाप को पचा लेने पर वह पुन पाप करता है। वह चालीस हजार और स्वीकार कर लेता है। यह उसकी दृष्टि से लाभ है। अत यह बिन्दु न की स्थिति है। यहीं दूसरा अंक समाप्त होता है।

इसके उपरान्त तीसरे अंक में उलझन गम्भीर रूप धारण कर लेती है और चन्द्रकला मारे गए लड़के के हाथों सिन्दूर लगवाकर वैधव्य स्वीकार कर लेती है। मुरारीलाल की मान-मर्यादा समाप्त हो जाती है क्योंकि अस्पताल में सभी इस घटना को जान जाते हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्रकला अब इसके पास रहना भी स्वीकार नहीं करती। यह पाप का प्रतिफल है जिसके कारण रेखा-बिन्दु पुन: ब पर आ जाते हैं। इस प्रकार नाटक पूर्णतया एक त्रासदी का रूप धारण कर लेता है।

इस विन्यास द्वारा स्पष्ट है कि नाटक में केवल एक मोड़ है जहाँ कथानक सफलता एवं असफलता की सीमाओं को स्पर्श करता है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नाटककार ने इसे तीन अंकों में विभाजित कर कथानक के साथ उचित सामञ्जस्य स्थापित किया है।

इस मूल वृत्त के अतिरिक्त नाटककार ने एक अन्य वृत्त भी सहायक-रूप म चित्रित किया है—मनोजशंकर और चन्द्रकला के सम्बन्ध को लेकर। इस वृत्त का विन्यास भी पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के विधान के अनुकूल है और इसका भी सामञ्जस्य तीनों अंकों में सुन्दर ढंग से हुआ है।

मनोजशंकर और चन्द्रकला भावी पति-पत्नी के रूप में एक-दूसरे को प्रेम करते हैं। आरम्भ में दोनों एक-दूसरे को विश्वास करते हैं यह स्थिति का परिचय अथवा कथारम्भ है। इसके पश्चात् मुरारीलाल और चन्द्रकला के वार्तालाप में इनकी शिथिलता का आभास हो जाता है और प्रथम अंक के अन्त में चन्द्रकला रजनीकान्त पर आकृष्ट हो जाती है। यहीं उलझन आरम्भ होती है। दूसरे अंक के आरम्भ में एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं क्योंकि चन्द्रकला रजनीकान्त के मोह में अस्तव्यस्त हो गई है। यह द्वन्द्व की एक सीमा है। परन्तु पुन स्वस्थ हो वह दोनों परस्पर समझौते का विचार करते हैं जिससे कथानक दूसरा छोर पकड़ लेता है। यहीं दूसरा अंक समाप्त होता है और तीसरे अंक में पुन दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो जाते हैं यह त्रासदी की स्थिति है। इस प्रकार इस कथा का रेखाचित्र भी मूल कथा के समानान्तर ही बनेगा।

इस प्रमुख और सहायक वृत्त के अतिरिक्त नाटककार ने अन्य कई वृत्तों का उपयोग भी कथानक के विकास के लिए किया है जैसे रजनीकान्त और मनमन्थसिंह का वृत्त रजनीकान्त और हरनन्दनसिंह का वृत्त मुरारीलाल द्वारा मनोजशंकर के पिता की हत्या का वृत्त और मनोरमा का वृत्त। ये सब वृत्त संस्कृत नाट्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रकरी' कहे जा सकते हैं। इनका कथा को गति देने से भिन्न अपना कोई उद्देश्य नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि नाटककार ने मूल कथानक के अतिरिक्त पाँच अन्य वृत्तों का उपयोग किया है। वस्तुतः इन सब वृत्तों का सामंजस्य करने में नाटककार सफल हुआ है। नाटक इतना सम्बद्ध है कि कहीं भी शिथिलता का आभास नहीं होता। किसी भी प्रसंग का बौद्धिक तर्क वितर्क होने के बावजूद मूल कथानक से विच्छेद नहीं किया जा सकता। अतः इस नाटक के कथानक को ढीला कथानक न कहकर सुगठित (Organic) कथानक ही कहा जाएगा जो कि नाटक का एक प्रमुख गुण होता है।

नाटक के कथानक में कथा की गति में तीव्रता होना नाटक के लिए आवश्यक गुण है। इसकी गति की तुलना उस पर्वतीय निर्झर से की जाती है जो द्रुत गति से निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। इस तीव्रता का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है—एक कार्य में तीव्रता दूसरे. कथानक के बाह्य-संगठन में तीव्रता। जहाँ तक कार्य का सम्बन्ध है सिन्दूर की होली की कथा द्रुत गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। कितनी घटनाएँ एक ही दिन में घटित हो जाती हैं और अन्त में फल की प्राप्ति हो जाती है। बाह्य-संगठन में जहाँ तर्कपूर्ण संवाद हैं वहाँ गति में कुछ स्थिरता अवश्य आती है परन्तु वे नाटक की घटनाओं के अस्वाभाविक प्रतीत होने वाले मोड़ों को स्वाभाविक रूप प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं। इन तर्कों के बिना कथानक में अस्वाभाविकता आ जाती। इसके अतिरिक्त कार्य की जो कथानक का आन्तरिक रूप है, गति इतनी तेज है कि बाह्य-संगठन में आने वाली किंचित स्थिरता विशेष प्रभाव नहीं डालती।

कथानक में मुख्य और गुप्त की योजना ही कथानक की सफलता का रहस्य है। संस्कृत नाटकों में इसका विचार रस की दृष्टि से होता था परन्तु पाश्चात्य नाटकों में इसका आधार नाटकीय स्थिति—द्वन्द्वमय स्थिति की योजना में है। सिन्दूर की होली का कथानक-विधान पूर्णतः पाश्चात्य से प्रभावित है अतः इसमें द्वन्द्वमय स्थिति की अनुकूलता की ओर भी ध्यान रखा गया है। प्रथम अंक में रिश्वत और हत्या ही द्वन्द्व का आधार है शेष द्वन्द्वमय स्थितियों

जैसे मनोजशंकर-चन्द्रकला-सम्बन्ध, मनोजशंकर के पिता सम्बन्धी रहस्य का परिचय मात्र करवाया गया है। दूसरे अंक में मनोजशंकर और मनोरमा के मध्य प्रेम पर द्वन्द्व है और चन्द्रकला के राम के उपचार पर तीव्र द्वन्द्व है। तीसरे अंक में चन्द्रकला और मनोरमा के मध्य आदर्शों का तीव्र द्वन्द्व है। इन बाह्य-द्वन्द्वों के साथ पात्रों के आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व का भी सफल चित्रण हुआ है।

कथा के सूक्ष्म भाग का संकेत भी उपयुक्त पात्रों को स्वाभाविक रूप से रंच पर लाकर करवाया गया है जिससे कथा का क्रम भी कहीं नहीं टूटता और न ही कथा में कहीं इस बात का आभास होता है कि यह बात नाटक में पृथक रूप से केवल कथा जोड़ने के लिए कही गई है। मिश्रजी के पूर्व नाटकों में यह विशेषता नहीं है।

नाटक में कथाविन्यास की योजना इस प्रकार होनी चाहिए जिससे उसमें आद्योपान्त कौतूहल का निर्वाह हो सके ताकि पाठक की रोचकता बनी रहे। कथानक-वैचित्र्य का आश्रय लेने वाले घटना-प्रधान कथानकों में यह विशेषता स्वाभाविक रूप से होती है। सिन्दूर की होली में कथानक-वैचित्र्य होने के कारण कौतूहल की स्थिति निर्विवाद है। मनोजशंकर के चरित्र के द्वन्द्व के कारण इस कौतूहल में और भी वृद्धि हुई है। प्रथम अंक में सभी घटनाओं एवं चरित्रों का परिचय ही उत्सुकता उत्पन्न करने वाला दिया गया है। दूसरे अंक में उलझनें और अधिक बढ़ जाती हैं और सारी उलझन का अन्त जानने को पाठक व्यग्र हो उठता है। अन्तिम अंक में इस उलझन को शान्त भी बड़ी कुशलता से किया गया है। मनोजशंकर के चरित्र में कुछ रहस्य है इस कौतूहल को कायम रखने के लिए मुरारीलाल जब ध्यान करते हैं उद्विग्न हो जाते हैं। माहिर अली जब बात करते हैं उत्सुकता बढ़ाते हैं और अन्तिम अंक में माहिर अली की उद्विग्नता में यह घोषणा कि आज प्रलय की रात है नाटककार द्वारा कौतूहलवर्धक वातावरण बनाए रखने में सफल होता है।

जैसा कि इस नाटक की विधा के निर्धारण में स्पष्ट किया जा चुका है यह नाटक समस्या एवं घटना-प्रधान है। घटना की दृष्टि से कथानक का विवेचन किया जा चुका है। समस्या की दृष्टि से भी विचार कर लेना अपेक्षित है। इस नाटक में समस्याएँ, जिनका बौद्धिक विवेचन नाटककार को अभीप्सित है, तीन हैं—रिश्वत, नारीत्व, विधवा-विवाह और रोमांस।

समस्या-नाटक के कथानक में नाटककार को दो बातें अभीष्ट होती हैं—प्रथम समस्या के विवेचन में बौद्धिक तर्क-वितर्क के लिए अवसर प्रदान करना द्वितीय उसे वाद-विवाद गोष्ठी का रूप न बनने देना। इन दोनों के समन्वय में

नाटक की सफलता निहित है। इस नाटक में समस्या के विवेचन के लिए नाटककार ने सम्पूर्ण कथानक का आश्रय नहीं लिया। उसने विशिष्ट पात्रों तथा असाधारण घटनाओं के स्वाभाविक चित्रण द्वारा ऐसी स्थितियों की योजना की है जिसमें गहन तथा गम्भीर तर्क वितर्क होने पर भी सजीवता एवं स्वाभाविकता विद्यमान रहती है। नाटक में इस प्रकार की तीन स्थितियों की योजना की गई है जिसमें नाटककार बहुत अंशों में सफल हुआ है।

अत निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि कथानक-शिल्प की दृष्टि से नाटक सफल है। उसमें एक सफल कथानक के लगभग सभी गुण विद्यमान हैं।

चरित्र चित्रण

जैसा कि वस्तुपक्ष में विवेचन किया जा चुका है नाटककार ने इस नाटक में दो प्रकार के चरित्रों की सृष्टि की है। मनोरमा चन्द्रकला तथा मनोज शंकर के चरित्र व्यक्ति-वैचित्र्य के आधार पर स्थित हैं और मुरारीलाल, जाहिर अली हरनन्दनसिंह जयवन्तसिंह तथा डाक्टर के चरित्र वर्गगत विशेष तामों से युक्त हैं। प्रथम वर्ग के चरित्र असाधारण हैं और दूसरे वर्ग के साधारण। दोनों वर्गों के चरित्रांकन की शैली में भिन्नता होती है अत इनका अलग अलग विवेचन किया जायगा।

व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत आने वाले चरित्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए नाटककार को उनकी मानसिक प्रक्रिया का रूप अधिक विस्तार से दिखाना आवश्यक होता है। परन्तु समस्या-नाटककार के लिए यह कार्य और भी कठिन होता है। साधारणत चरित्रों का उद्घाटन संवाद और क्रियाओं के माध्यम से होता है परन्तु बौद्धिक चरित्रों में ये साधन भी अपना सीमित महत्त्व रखते हैं। संवाद जब तर्क वितर्क का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य वह सब बातें ही नहीं कहता जिन्हें वह स्वयं स्वीकार करता है और उन पर आचरण करता है अपितु वह तर्क के लिए भी तर्क देता है। तर्क-वितर्क में अपने विचारों को प्रतिपादित कर सकने में असमर्थता प्रकट करना मानव विशेष रूप से व्यक्तिवादी मानव के अहं के अनुकूल नहीं। इसलिए तर्क में प्रतिपादित विचारों को एक सीमा तक ही उसके चरित्र के अंग-रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार क्रियाएँ भी बौद्धिक चरित्रों के चरित्र-उद्घाटन में अधिक योग नहीं देतीं क्योंकि बौद्धिक चरित्र प्राय कार्य की दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं। वे काम की अपेक्षा विचार ही अधिक करते हैं। इतिहास प्रसिद्ध नायकों की तरह उनके चरित्र में कर्मशीलता नहीं होती। अत इस प्रकार के चरित्रों के चरित्र उद्घाटन के लिए नाटककार के पास एक मात्र

साधन अन्तर्द्वन्द्व है। अन्तर्द्वन्द्व दिखाने का सबसे प्रबल साधन है स्वगत भाषण। परन्तु आधुनिक नाटककार ने स्वाभाविकता के नाम पर इसका भी बहिष्कार कर रखा है। वह संवादों तथा प्रत्येक संवाद के साथ दिए गए सात्विक एवं मूक अभिनय के आधार पर ही चरित्र का उद्घाटन करता है। सात्विक एवं मूक अभिनय की भी पाठ्य नाटक में एक सीमा है। पाठ्य नाटक में अधिक विस्तृत मूक अभिनय पाठक के हृदय पर प्रभाव डालने की अपेक्षा दृश्य मात्र रह जाता है। इन सब सीमाओं के अन्तर्गत ही नाटककार बौद्धिक चरित्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है।

मनोरमा का चरित्र सबसे अधिक बौद्धिक होने के साथ-साथ आदर्श की पराकाष्ठा पर स्थित है। परन्तु नाटककार ने अपने कौशल द्वारा कहीं भी इसका मानवीय रूप धूमिल नहीं होने दिया। चन्द्रकला जब उसके व्यक्तित्व पर, उसके आदर्शों के विश्लेषण पर आलोचना करती है तो वह उदार हो उठती है। उसे इस बात के उत्तर देने के लिए पुनः आवश्यक आत्मबल का संचय करना पड़ता है। नाटककार ने उसके चित्रण में सात्विक एवं मूक अभिनय का भी आश्रय लिया है। वह शुष्क से शुष्क तर्कों में भी व्यक्तित्व-शून्य नहीं। इन तर्कों का प्रवाह एवं ठोसपन उसके व्यक्तित्व का उद्घाटन करता है। मनोरमा के चरित्र में अगति के निर्वाह होने का एक कारण यह भी है कि वह विकसित चरित्र है। उसके चरित्र में जिन विशेषताओं का नाटककार ने आरोप किया है वह अन्त तक उन्हीं के अनुकूल आचरण करती है।

चन्द्रकला के चरित्र में आवेश की पराकाष्ठा दिखाई गई है। वह सामाजिक मर्यादाओं की पूर्णतया अवहेलना कर स्वच्छन्द प्रेम की चरम सीमा तक पहुँच जाती है जहाँ उसके भाग्य में वैधव्य ही आता है, किन्तु वह इस वैधव्य को भी चिरन्तन नारीत्व का उदय मानती है। इतने असाधारण चरित्र को अस्वाभाविक बनने से बचाने के लिए नाटककार ने उसकी पृष्ठभूमि पर मनोवैज्ञानिक कारणों और उसके लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की है। चन्द्रकला की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य वातावरण में हुई जहाँ स्वच्छन्द प्रेम के विचारों का बीज उसके हृदय में अंकुरित होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युवा होने पर उसकी यौन-भावना सर्वदा तिरस्कृत हुई। जिसके लिए उसके हृदय में भावी पति के रूप में प्रेम के रंगीन स्वप्न थे वह उसकी किंचित् भी परवाह न कर उसे ठुकराता रहा। यह एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें कोई भी अपरिपक्व बुद्धि का युवा-हृदय मानसिक तृप्ति की अनियन्त्रित खोज में गिर सकता है। इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के विकास के कारण

ही उसके चरित्र में स्वाभाविकता का निर्वाह हो पाया है।

शिक्षित व्यक्ति अपने मन की दुर्बलता को किस चतुराई से छिपाता है, यह भी चन्द्रकला के चरित्र द्वारा नाटककार ने बड़ी सफलता से स्पष्ट किया है। वह शिक्षित होने के कारण तर्क करना जानती है। वह रजनीकान्त पर मोहित होने पर इसे बड़े चतुराईपूर्ण वचनों से छिपाती है। मनोरमा के उसके प्रेम के बारे में पूछने पर वह उत्तर देती है—

'तुम जानती हो मैं किससे प्रेम करती हूँ ... प्रेम दो बार से तो हो नहीं सकता और फिर अब प्रथम दर्शन में प्रेम का समय भी नहीं रहा। वह तो युग दूसरा था जब हृदय का रस उफनता रहता था और अनायास किसी ओर बह उठता था। अब तो व्यय की मात्रा आय से अधिक हो गई है। उसके साथ प्रेम की नहीं ... विनोद की बात हो सकती थी ... उसके साथ छिलवाड़ हो सकती थी ... तबीयत बहलाई जा सकती थी।'[1]

शिक्षित व्यक्ति के चरित्र के इस दोहरेपन का निर्वाह नाटककार ने आद्योपान्त बड़ी कुशलता से किया है। चन्द्रकला एक बार तो लज्जा के कारण प्रेम को छिपाती है और दूसरी ओर आत्माभिमान से युक्त तर्क करती है और अपने प्रेम की स्पष्ट घोषणा करती है। आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न होने वाले अहंवाद की पृष्ठभूमि में विचार करने पर इस अस्वाभाविकता का भी निराकरण हो जाता है। अतः यह कहने में किंचित् भी संकोच नहीं कि नाटककार ने चन्द्रकला जैसे अस्वाभाविक प्रतीत होने वाले चरित्र के चित्रण में भी सफलता प्राप्त की है। इस सफलता का एक कारण यह भी है कि चन्द्रकला विकसित चरित्र है।

मनोजशंकर ही नाटक में एक मात्र विकासशील चरित्र है। इसके चरित्र में नाटककार मनोरमा की शिक्षा द्वारा परिवर्तन लाया है। वह आरम्भ में अपने पिता की आत्महत्या का कारण न जान सकने के कारण मानसिक ग्रन्थि से पीड़ित था जिसके कारण उसके जीवन का विकास ही रुक गया था। परन्तु बुद्धिवादी तर्कों से इतना शीघ्र परिवर्तित होकर उसका जीवन की सन्तुलित कर लेना पाठक को अस्वाभाविक-सा लगता है। इतनी शीघ्र प्रभावित होने के लिए यद्यपि उसकी मनोरमा के प्रति आसक्ति को भी आधार माना जा सकता है परन्तु अपने प्रति इतना अनुत्तरदायी हो जाने वाला व्यक्ति अपने रोग का स्वयं उपचार करता था और चन्द्रकला के रोग के विश्लेषण में इतने

---

१ सिन्दूर की होली, पृ० ४०

स्थिर तथा एकीकृत विचार रखता है अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। वास्तव में मानसिक रोग के उपचार की समस्या के विश्लेषण का अधिक विस्तृत एवं गम्भीर रूप देने के लोभ को नाटककार संवरण न कर सका जिसके कारण मनोजशंकर के चरित्र में कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। वस्तुतः जैसा कि नाटक के सैद्धान्तिक विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है विकसनशील चरित्रों का निर्वाह नाटक के सीमित आकार और साधनों में सम्भव नहीं यह तो उपन्यास की वस्तु है। वस्तुतः मनोजशंकर के चरित्र में आई हुई कतिपय अस्वाभाविकताएँ नाटक में उद्देश्य के आग्रह के कारण ही हैं। यद्यपि इन अस्वाभाविकताओं का व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत सूक्ष्म विवेचन द्वारा निराकरण भी किया जा सकता है, तो भी समग्र प्रभाव के रूप में पाठक को अस्वाभाविकता ही खटकती है।

वर्गगत विशेषताओं से युक्त पात्रों में मुरारीलाल हरनन्दनसिंह भगवन्तसिंह और डाक्टर हैं। वर्ग प्रतिनिधि पात्र पाठक के लिए परिचित होते हैं अतः उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए नाटककार को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन्हें नाटककार अपने उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त करता है। डाक्टर का चरित्र इसी श्रेणी का है। जमींदार भगवन्तसिंह भी केवल वर्गगत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है। हरनन्दनसिंह और माहिर अली के चरित्र में व्यक्तिगत विशेषताओं का भी समावेश होने के कारण अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण हुआ है। दोनों की भावनाएँ उन्हें पाप करने से रोकती हैं परन्तु अन्त में धन के आकर्षण में वे घुटने टेक देते हैं।

वर्ग-प्रतिनिधि चरित्रों में सबसे सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण मुरारीलाल का है। उसके मन की लोभ-वृत्ति और दया की भावनाओं का द्वन्द्व बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। उसने लोभ की पाशविक वृत्ति के अधीन होकर प्रथम हत्या की। उससे उसे आत्मग्लानि हुई और उसने प्रायश्चित करने का विचार कर लिया मनोजशंकर को उच्च शिक्षा दिलाकर दामाद बनाना स्वीकार कर उसने आत्म रक्षा कर ली। परन्तु लोभ की वृत्ति जो पहले प्रबल रूप में थी मर कैसे सकती थी। अब वह मनोजशंकर के विलायत जाने के खर्चे की झीनी आड़ लेकर आई। दूसरी आड़ उसने कानून की ली—यदि वह मारा भी गया तो रायसाहब तो कानून की सीमित शक्ति के कारण छूट ही जाएँगे। अब लोभ-वृत्ति प्रच्छन्न थी परन्तु झीने आवरण में। परन्तु जब उसे पता चला कि हत्या हो चुकी होगी तो उसका मानवीय रूप पुनः प्रबल हो गया एक निरपराध व्यक्ति मारा जा रहा है, वह यह सहन नहीं कर सकता। लोभ-वृत्ति तीसरी बार फिर प्रबल

हुई, यह आवरण का रूप भिन्न था इस प्रकार धन लेकर ही रायसाहब जैसे हत्यारे, पापी व्यक्ति को बचा लिया जा सकता है और रजनीकान्त के बच जाने पर वह रुपया उसे ही दे दिया जायगा। परन्तु चालीस हजार लेकर उसकी हत्या के लिए अपराधी को छूट दे दी गई थी। मानवीय वृत्ति उसके मर जाने के पश्चात् उसके सरल स्वभाव से पुनः जाग्रत हुई परन्तु तब तो सब निरर्थक था। इस प्रकार दैवी और दानवी-वृत्ति का स्पष्ट द्वन्द्व दिखलाकर नाटककार मुरारीलाल के चरित्र चित्रण में पूर्णत: सफल हुआ।

नाटककार ने सभी चरित्रों का विवेचन सहानुभूतिपूर्ण किया है। चरित्रों के दुष्कर्मों की पृष्ठभूमि का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर वह उनके दुष्कर्मों के लिए समाज को उत्तरदायी ठहराता है। उसके विचार में कोई भी पुरुष अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं उसे जिस वातावरण में संस्कार मिले वह उसके अनुरूप आचरण करेगा ही। इस प्रकार व्यक्ति का दोष सामाजिक व्यवस्था पर डाल दिया गया है। मनोरमा चन्द्रकला के रजनीकान्त पर मोहित होकर मानसिक रानी होने के कारणों का विश्लेषण कर सारा दोष परिवेश पर डालती है। वह कहती है—

'ऐसा अनुमान करना कि यह रजनीकान्त को अपने पुरुष के रूप में प्रेम करने लगी है ठीक नहीं है। उसके हृदय पर उसकी हँसी और उसकी सरलता साथ ही साथ उसके सुन्दर शरीर का भी मोहक प्रभाव पड़ा था जो समय के साथ-साथ स्वयं मिट जाता लेकिन उसका पायल हो जाना और वह भी सांघातिक रूप में जिसमें बहुत कुछ दोष मुरारीलाल महाशय का है यह सब मिलकर पहाड़ हो उठा वह सम्हाल नहीं सकी। बहुत कुछ बुराई तो मेरे चित्त से हुई।"[1]

इस सारे विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि नाटककार चरित्र-चित्रण में बहुत अंशों में सफल है। केवल मनोजशंकर के चरित्र को छोड़कर शेष में तो उसकी सफलता निर्विवाद है।

संवाद

संवाद के मूलतः दो अंग है—एक भाव दूसरा भाषा। भाव कथानक को गति देता है चरित्र का स्पष्ट करता है और उद्देश्य को व्यंजित करता है। भाषा पात्रानुरूप एवं विषयानुरूप होकर स्वाभाविकता को बनाए रखती है।

इस प्रकार संवाद का प्रथम कार्य है कथानक को गति देना। ऐसा संवाद

१ सिन्दूर की होली, पृ० ७

या कथानक के विकास की दृष्टि से विषयान्तर हो सुन्दर एवं कलात्मक होने पर भी त्याज्य है। सिन्दूर की होली के संवादों में प्रमुखतः दो भेद हैं। मुरारीलाल की मूल कथा से सम्बद्ध संवादों में कथा के विकास को गति देने का गुण विद्यमान है परन्तु तर्क-वितर्क के स्थलों पर प्रयुक्त संवाद बौद्धिक तर्कों का तारतम्य बनाते हैं। अतः इनकी विषयानुकूलता असंदिग्ध है।

संवाद का दूसरा प्रधान कर्म है चरित्र को स्पष्ट करना। चरित्र के अन्तर्द्वन्द्व की स्पष्टता के लिए यथार्थवादी नाटककार स्वगत भाषा की अपेक्षा मूक अभिनय को प्रश्रय देता है। परन्तु मूकता की अभिव्यक्ति में वचित्र्य का अभाव है। इसलिए नाटककार एक सीमा तक ही इसका उपयोग कर सकता है। मन में चंचलता है इसका आभास तो मूक अभिनय से हो जाता है परन्तु उसमें किस-किस प्रकार के विचार उठ रहे हैं, यह स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अतः नाटककार को अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए मुख्य रूप से संवाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। मिश्रजी ने इस दृष्टि से संवादों की योजना बड़े सफल ढंग से की है। नाटककार पहले पात्र से अन्तर्द्वन्द्व का एक पक्ष किसी साधारण पात्र के सम्मुख प्रस्तुत करवा देता है और फिर किसी प्रतिरोध के कारण वही पात्र दूसरा पक्ष भी स्वयं ही प्रस्तुत करता है। मुरारीलाल के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए पहले उसका दया का भाव बोलता है—

मुरारीलाल—"हूँ जरूर ऐसी बात थी। उसके चेहरे से शैतानी टपक रही थी। और मालूम होता था उसकी भी राय से वह मारा गया होगा। मनुष्य का स्वार्थ इसके लिए आदमी क्या नहीं कर डालता? (कमीज की आस्तीन समेटकर) इधर देखो मेरे रोयें खड़े हो गए हैं उसे सिर से चक्कर आ रहा है क्या समझते हो अगर वह मारा गया तो उसमें मेरी वजह"

माहिर अली—"मैंने पहले कहा था वह आपकी वजह से मारा गया होगा। कानून के डर से इस बेईमान की हिम्मत इतनी नहीं होती।"

और इस प्रकार माहिर अली द्वारा दाप दिए जाने पर मुरारीलाल एकदम बदल जाता है और कानून की विवशता आदि के तर्कों द्वारा अपने को निर्दोष सिद्ध करने लगता है। पाठक के सम्मुख उसके दोनों भावों के रूप आ जाते हैं और अन्तर्द्वन्द्व भी स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार नाटक में स्वाभाविकता भी बनी रहती है और अन्तर्द्वन्द्व के स्पष्ट हो जाने से चरित्र का व्यक्तित्व भी विश्वसनीय एवं मानवीय बन जाता है।

संवाद का दूसरा अंग है—भाषा। भाषा का विषयानुरूप एवं पात्रानुरूप होना स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए आवश्यक है। नाटक में दो प्रकार के विषय

हैं—एक भाव प्रधान जो मुरारीलाल के कथानक से सम्बद्ध हैं और दूसरे जो समस्या से सम्बद्ध हैं। दोनों की भाषा में भी विषय के अनुरूप भिन्नता है। भाव प्रधान शब्दावली में बोलचाल की भाषा का अधिक प्रयोग है जिसमें बोलचाल के उर्दू आदि अन्य भाषाओं के शब्द भी आ गए हैं जैसे बयान अदालत मुमकिन तनख्वाह दस्तावेज हसी-हुकूमत आदि। यह शब्दावली खटकने वाली नहीं प्रत्युत् स्वाभाविकता के निर्वाह में यह नाटक का गुण ही कही जायगी।

तार्किक स्थलों पर भाषा अधिक परिष्कृत और संस्कृतनिष्ठ है क्योंकि वहाँ पर भाव की अपेक्षा विचार का प्राधान्य है। परन्तु इस शब्दावली में भी नाटकीयता का गुण लुप्त नहीं हो पाया।

लगभग सभी पात्र शिक्षित हैं इसलिए पात्रों की भाषा में भिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल विषय के अनुरूप उनकी भाषा में भेद आ गया है। जैसे माहिर अली उद्वेग के समय भजन को 'परसम' कहता है।

संवाद में नाटकीयता होना संवाद का सर्वप्रथम गुण है। यद्यपि वह कथा तथा उद्देश्य एवं चरित्रों को अभिव्यक्त करने का साधन है परन्तु इस माध्यम में भी उसका एक निजी सौंदर्य है जिसके कारण उसे एक विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस सौन्दर्य में मिश्रजी बहुत अंशों में सफल हैं। उनके संवादों में एक विशेष प्रकार की मोहकता है जिसके कारण पाठक को बौद्धिक तर्क-वितर्क भी अखरता नहीं। संवाद में हृदय को एवं मस्तिष्क को केन्द्रित करने की इस प्रकार की शक्ति है कि पाठक कहीं भी ऊबता नहीं। इसी संवाद-कुशलता के कारण ही वे नाटककार अविच्छेद्य भावों को मूल्य-कथा के अन्तर्गत रखते हुए भी उसके प्रभाव की व्यंजना पाठक को करवा देते हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि 'सिन्दूर की होली' मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ कृति है। नाटककार इसमें अपने उद्देश्य की व्यंजना के साथ नाट्यकला को भी अक्षुण्ण रखने में सफल हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रजी के नाटकों की आलोचना करते हुए लिखा है— 'नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाए उसमें काव्यत्व का अवयव बरतने नहीं पाया है।'[1] प्रश्न विचारणीय है कि क्या वस्तुतः मिश्रजी के नाटकों की परम्पराएँ भारत की न होकर योरप की हैं? आचार्य शुक्ल और उनके कई परवर्ती आलोचकों ने उन्हें पाश्चात्य प्रभाव में क्यों देखा? मिश्रजी के साहित्य का मूल्यांकन करने से पूर्व इसे स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

भारतेन्दु के कई वर्षों पश्चात् प्रसाद की अप्रतिम प्रतिभा ने हिन्दी नाटक की सहज बहने वाली धारा को अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कृतियों से एक नया जीवन प्रदान किया। उनके नाटकों में अंकित उज्ज्वल अतीत की झाँकी ने और प्रलम्ब स्रोत-सी प्रवाहित गहरी रसात्मक संवेदना ने समाज को काफी दूर तक अनुभूतिमय बना दिया। उत्थान की इस नवीन चकाचौंध से अभिभूत समाज में मिश्रजी के नग्न यथार्थ और बौद्धिकतापूर्ण नाटकों को उचित सम्मान मिलना अधिक सम्भव भी न था। आदर्शवादी धारा के चरम विकास के ऊँचे कगारों पर खड़े हिन्दी-समाज को मंद गति से प्रवाहित यथार्थवादी धारा लुप्त प्राय लगी और उसने मिश्रजी की कलात्मकता और आग्... [illegible] को विदेश से प्रवाहित यथार्थवादी धारा से सम्बद्ध कर दिया। य... [illegible] था कि आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् आलोचक... ने इसे विदेश... [illegible] दे दिया और अधिकांश परवर्ती आलोचक... [illegible] के ... [illegible] में उसी लीक पर चलते रहे। अतः मिश्र... [illegible] निर्मूल करने के लिए उनकी तथाकथित... [illegible] न सम्बन्ध स्पष्ट कर देना उप... [illegible]

मिश्रजी की नाट्यकला के... [illegible] भारतेन्दु-काल में ही समाज की... [illegible]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास ... [illegible]

प्रारम्भ हो गया था। यथार्थवादी एवं आदर्शवादी दोनों धाराओं के अधिकांश नाटकों में समाज के प्रति सजगता पाई जाती है। द्विवेदी-काल के कई नाटकों में तो इस प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण कलागत ह्रास भी हुआ है। अतः मिश्रजी की इस प्रवृत्ति को इब्सन और शॉ का अनुकरण कहना तक संगत नहीं।

मिश्रजी ने इब्सन और शॉ की भाँति सामयिक समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया। परन्तु हिन्दी-नाटककार भारतेन्दु-काल से ही इस ओर प्रवृत्त हो चुका था। भारतेन्दु-काल में ये समस्याएँ स्थूल थीं जैसे वेश्या-समस्या, विधवा-विवाह-समस्या, नारी-शिक्षा आदि। परन्तु युग-चिन्तन के विकास के कारण मिश्रजी के नाटकों में इन्होंने स्वच्छन्द प्रेम-जैसी सूक्ष्म समस्याओं का रूप धारण कर लिया। अतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर यह प्रयाण स्वाभाविक विकास का सूचक है शॉ आदि के अनुकरण का नहीं।

मिश्रजी के नाटकों में नग्न यथार्थ को देखकर भी आलोचक अधिक चौंके। परन्तु विज्ञान और उद्योग से उद्भूत बौद्धिकता से समाज का कटु यथार्थ की ओर उन्मुख होना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। नाटकों में इसके बीज मिश्रजी से पूर्व भी मिलते हैं। राधाकृष्णदास के 'दुःखिनी बाला' नाटक की नायिका श्यामा शरीर के स्वाभाविक धर्म का नियन्त्रण न कर सकने के कारण पर-पुरुष सम्बन्ध के सुझाव को स्वीकार कर लेती है। नाटककार ने इसका नाम भी पहले 'विधवा-विवाह नाटक' रखा था। इसकी आलोचना करते हुए डा० बच्चन सिंह लिखते हैं "विधवा-विवाह नाटक में जो यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है वह बाद में आदर्शवाद में बदल दिया गया है। लगता है कि शासन और सुधार के इस युग में [illegible] यथार्थ के प्रति भी सजग जागरूक होने लगे थे। पर सामाजिक रूढ़ियों के खुले तिरस्कार की शक्ति उनमें न आई थी।"[1] अतः यथार्थ की ओर उन्मुखता को युग की प्रवृत्ति मानना ही अधिक समीचीन है।

विदेशी प्रभाव का भ्रम उत्पन्न करने वाली प्रमुख प्रवृत्ति है नाटकों में व्याप्त बौद्धिकता। यह मिश्रजी के नाटकों में तीन रूप में विद्यमान है। प्रथम उनके कई पात्र बुद्धिवादी हैं दूसरे उनकी समस्या पर विचार करने की दृष्टि भी बौद्धिक है और तीसरे उनके संवादों में बौद्धिक तर्क-वितर्क की योजना की गई है। जहाँ तक पात्रों की बुद्धिवादिता का प्रश्न है इसका समाहार यथार्थवाद के अन्तर्गत किया जा सकता है। जब उन्हें समाज के मानसिक स्तर का चित्रण

१ हिन्दी नाटक : डा० बच्चनसिंह, १५

उपसंहार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रजी के नाटकों की आलोचना करते हुए लिखा है— "नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाए उसमें काव्यत्व का प्रवेश भरसक नहीं होने पाया है।"[1] अतः विचारणीय है कि क्या वस्तुतः मिश्रजी के नाटकों की परम्पराएँ भारत की न होकर योरप की हैं? आचार्य शुक्ल और उनके कई परवर्ती आलोचकों ने उन्हें पाश्चात्य प्रभाव में क्यों देखा? मिश्रजी के साहित्य का मूल्यांकन करने से पूर्व इसे स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

भारतेन्दु के कई वर्षों पश्चात् प्रसाद की अप्रतिम प्रतिभा ने हिन्दी नाटक की सहज बहने वाली धारा को अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कृतियों से एक नया जीवन प्रदान किया। उनके नाटकों में संवृत उज्ज्वल अतीत की झाँकी ने और अजस्र स्रोत-सी प्रवाहित गहरी रसात्मक संवेदना ने समाज को काफी दूर तक अनुभूतिमय बना दिया। उत्थान की इस नवीन चकाचौंध से अभिभूत समाज में मिश्रजी के नग्न यथार्थ और बौद्धिकतापूर्ण नाटकों को उचित सम्मान मिलना अधिक सम्भव भी न था। आदर्शवादी धारा के चरम विकास के ऊँचे कगारों पर खड़े हिन्दी-समाज को मंद गति से प्रवाहित यथार्थवादी धारा लुप्त प्राय लगी और उसने मिश्रजी की कलात्मकता और व्यापकता को विदेश में प्रवाहित यथार्थवादी धारा से सम्बद्ध कर दिया। यह एक संयोग ही था कि आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् आलोचक ने भी इसे विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत देखा और अधिकांश परवर्ती आलोचक भी शुक्लजी के कथन की पृष्ठभूमि में उसी लीक पर चलते रहे। अतः मिश्रजी विषयक इस प्रचलित धारणा को निर्मूल करने के लिए उनकी तथाकथित विदेशी विशेषताओं का पूर्ववर्ती नाटक-परम्परा से सम्बन्ध स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

मिश्रजी की नाट्यकला की प्रमुख विशेषता है समाज के प्रति व्यापकता। भारतेन्दु-काल में ही समाज की त्रुटियों को नाटक के माध्यम से रखने का प्रयास

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल पृ० ५५१

प्रारम्भ हो गया था। यथार्थवादी एवं भावनावादी दोनों धाराओं के अधिकांश नाटकों में समाज के प्रति सजगता पाई जाती है। द्विवेदी-काल के कई नाटकों में तो इस प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण कलागत ह्रास भी हुआ है। अत मिश्रजी की इस प्रवृत्ति का इब्सन और शॉ का अनुकरण कहना तर्क सगत नहीं।

मिश्रजी ने इब्सन और शॉ की भांति सामयिक समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया। परन्तु हिन्दी-नाटककार भारतेन्दु-काल से ही इस ओर प्रवृत्त हो चुका था। भारतेन्दु-काल में ये समस्याएं स्थूल थीं जैसे वेश्या-समस्या विधवा-विवाह-समस्या नारी-शिक्षा आदि। परन्तु युग-विकास के विकास के कारण मिश्रजी के नाटकों में इन्होंने स्वच्छन्द प्रेम-जैसी सूक्ष्म समस्याओं का रूप धारण कर लिया। अत स्थूल से सूक्ष्म की ओर यह प्रयाण स्वाभाविक विकास का सूचक है शॉ आदि के अनुकरण का नहीं।

मिश्रजी के नाटकों में नग्न यथार्थ को देखकर भी आलोचक चकित होते हैं। परन्तु विकास और उत्थान से उद्भूत बौद्धिकता में समाज का कटु यथार्थ की ओर उन्मुख होना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। नाटकों में इसके बीज मिश्रजी से पूर्व भी मिलते हैं। राधाकृष्णदास के 'दुःखिनी बाला' नाटक की नायिका श्यामा शरीर के स्वाभाविक धर्म का नियन्त्रण न कर सकने के कारण पर-पुरुष सम्पर्क के सुख को स्वीकार कर लेती है। नाटककार ने इसका नाम भी पहले 'विधवा विवाह नाटक' रखा था। इसकी आलोचना करते हुए डा. बच्चन सिंह लिखते हैं "विधवा-विवाह नाटक में जो यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है वह बाद में नाटककार में बदल दिया गया है। लगता है कि भारतेन्दु और सुधार के इस युग में घोर यथार्थ के प्रति भी लेखक जागरूक होने लगे थे। पर सामाजिक रूढ़ियों के खुले तिरस्कार की शक्ति उनमें न आई थी।"[1] अत यथार्थ की ओर उन्मुखता को युग की प्रवृत्ति मानना ही अधिक समीचीन है।

विदेशी प्रभाव का भ्रम उत्पन्न करने वाली प्रमुख प्रवृत्ति है नाटकों में व्याप्त बौद्धिकता। यह मिश्रजी के नाटकों में तीन रूप में विद्यमान है। प्रथम उनके कई पात्र बुद्धिवादी हैं दूसरे उनको समस्या पर विचार करने का दृष्टिकोण बौद्धिक है और तीसरे उनके संवादों में बौद्धिक तर्क-वितर्क की योजना की गई है। जहां तक पात्रों की बुद्धिवादिता का प्रश्न है इसका समाहार यथार्थवाद के अन्तर्गत किया जा सकता है। पर उन्होंने समाज के सामयिक रूप का चित्रण

१. हिन्दी नाटक : डा० बच्चनसिंह १ २

अभीष्ट था तो युग के अनुरूप बौद्धिक चरित्रों का सृजन अनिवार्य ही था। बुद्धिवादी दृष्टिकोण को भी इब्सन और शॉ की अपेक्षा तत्कालीन युग की प्रवृत्ति के रूप में समझना अधिक संगत है। जब जीवन के प्रत्येक पहलू पर बुद्धि के दृष्टिकोण से विचार करने का प्रबल आग्रह आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा था तो इन समस्याओं के बुद्धिवाद में इब्सन और शॉ का प्रभाव देखना कहाँ तक युक्तियुक्त होगा। संवादों की तर्कशीलता भी यथार्थवाद और युगानुप्राणित बुद्धिवाद से—जिसमें आर्यसमाज की शास्त्रार्थ-पद्धति का विशेष योग है—प्रभावित मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त नाटककार के सभी नाटक न बौद्धिकता लिये हैं न तर्क-प्रधान हैं। 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' बौद्धिकता-प्रधान नहीं 'सिन्दूर की होली' में मुरारीलाल का वृत्त सर्वथा बौद्धिकता-शून्य है। अतः सम्पूर्ण कृतित्व को बर्नार्ड शॉ के प्रभाव में लिखा गया कहना भी असंगत है।

इसके अतिरिक्त शैली की दृष्टि से बिना गीत का नाटक एक अंक में एक दृश्य को रखना तीन अंकों का नाटक लिखना इत्यादि विशेषताएँ पाश्चात्य यथार्थवादी धारा के समान होने के कारण उससे प्रभावित कही जाती हैं। परन्तु एक तो ये बातें बहुत ऊपरी हैं और इनका विशेष महत्त्व नहीं दूसरे इन्हें भी पाश्चात्य परम्परा से उधार लाया गया है ऐसा आग्रहपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये तो यथार्थवाद में सहज विकास के लक्षण हैं। एक अंक में एक दृश्य रखने की प्रवृत्ति हमें मिश्रजी से पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयंक मंजरी' नाटक में भी मिलती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि लक्ष्मीनारायण मिश्र और शॉ के नाटकों में कई भेद इतने स्पष्ट हैं कि इनके नाटक के स्वरूप को किसी प्रकार भी योरप से लाया गया नहीं कहा जा सकता। इब्सन तथा शॉ ने तर्क द्वारा रूढ़ि का विरोध किया है यदि मिश्रजी उन्हीं के अनुकरण पर नाटक रचना में प्रवृत्त होते तो वह समाज की रूढ़ियों के विरोध में ही नाटक लिखते और भारत के रूढ़िग्रस्त समाज में इसके लिए सामग्री का चयन भी अधिक सुगम होता। परन्तु मिश्रजी ने तो इसके विपरीत सामाजिक आदर्श का प्रतिपादन किया है। इब्सन और शॉ ने समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व में व्यक्ति की विजय का समर्थन किया है परन्तु मिश्रजी ने व्यक्ति की प्रवृत्ति को पशु प्रवृत्ति बताकर सामाजिक संस्कारों को इसके नियमन का एक प्रमुख साधन बताया है। इस प्रकार दोनों में व्यक्ति और समाज के द्वंद्व दिखाने में समानता अवश्य है परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में मौलिक भेद है। इसके अतिरिक्त दोनों की सुधार की पद्धति में भी

भेद है। शॉ ने समाज में वैचारिक क्रान्ति लाने के लिए उपहास को प्रमुख माध्यम बनाया है परन्तु मिश्रजी ने उपहास को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने व्यंग्य विचार तर्क और अनुभूति सभी का आश्रय लेकर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है।

इस सब विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र की परिस्थितियाँ और उनसे उद्भूत प्रेरणाएँ मौलिक हैं उनकी परम्पराएँ हिन्दी की अपनी परम्पराएँ हैं। ऐसा कहना कि वह नाटक का कोई नया स्वरूप पाश्चात्य से लाए, उनके साथ और हिन्दी नाटक की यथार्थवादी धारा के साथ अन्याय करना होगा। उन पर उतना ही पाश्चात्य प्रभाव मानना समीचीन होगा जितना कि हिन्दी की अन्य साहित्यिक धाराओं पर एवं हिन्दी के अन्य साहित्यकारों पर माना जाता है। अपने निज के व्यक्तित्व को बनाए रखते हुए दूसरे के प्रभाव को ग्रहण करना एक गुण है विकास का द्योतक है। बस इतना ही प्रभाव हमारे नाटककार पर इब्सन शॉ आदि नाटककारों का माना जाना चाहिए।

इस प्रकार इनके स्वरूप में उन्हें भारतीय मान लेने के पश्चात् उनके विषय में प्रचलित अन्य कई भ्रान्तियाँ स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। उनकी भारतीयता के प्रति निष्ठा को समझने में आलोचकों को जो अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता रहा वह भी निर्मूल हो जाता है। उनका मूल्यांकन करते हुए यह कहना कि उन्होंने शॉ की परम्परा को अपनाया परन्तु वह पूर्णतया बुद्धिवादी न हो सके स्वतः निरर्थक हो जाता है।

सामाजिक नाटकों के मूल्यांकन का निष्कर्ष

समस्या-प्रधान नाटक—

मिश्रजी के समस्या-प्रधान नाटक दो हैं—'संन्यासी' और 'आधी रात'। 'संन्यासी' में स्वच्छन्द प्रेम की समस्या का विवेचन करते हुए उस पर मर्यादित प्रेम अर्थात् विवाह की विजय दिखाई है। इस प्रेम के उद्भावक कारणों के रूप में नाटककार ने अनमेल विवाह तथा सहशिक्षा का भी विशद चित्रण किया है। और इस पर यथाप्रसंग विवाह में पुरुष की उद्दाम वासना पर भी व्यंग्य किये गए हैं। प्रारम्भिक कृति होने के कारण शिल्प-दृष्टि से नाटक शिथिल है। 'आधी रात' में स्वच्छन्द प्रेम की समस्या के साथ नारी की स्थिति का भी चित्रण किया गया है। वह अपने दाम्पत्य प्रयोग द्वारा एक कुत्सित पुरुष के सुधार में सफल होती है। समस्या-विवेचन में भारतीय और पाश्चात्य नारी-

मान्यों का तुलनात्मक विवेचन बड़े तर्कपूर्ण ढंग से किया गया है। दूसरी समस्या यौन कुण्ठाओं से उत्पन्न व्यक्तिवादी साहित्य के सामाजिक मूल्यों की है। नाटककार स्वयं कवि द्वारा इस साहित्य को जलवाकर सिद्ध करता है कि असंतुलित व्यक्ति द्वारा रचित सभी साहित्य मिथ्या है। शिल्प-पक्ष में नाटककार ने कई नये प्रयोग किए हैं जिनमें उसकी प्रतिभा का आभास झलकता है यद्यपि नाटक में जटिलता आ जाने के कारण वह इनमें 'अंशतः' ही सफल है।

विचार प्रधान नाटक

ये नाटक तीन हैं—'राक्षस का मन्दिर' 'मुक्ति का रहस्य' 'राजयोग'। 'राक्षस के मन्दिर' में नाटककार ने आधुनिक बुद्धिवादी युग की प्रवृत्तियों को प्रतीक बना कर नारी की समस्या का बौद्धिक व्याख्यान किया है। नारी को राक्षस मानव और देवता के मध्य विभाजित बताकर उसे व्यक्तिगत उत्थान की अपेक्षा सम्पूर्ण नारी-जाति के उत्थान के लिए प्रेरित किया है। बौद्धिक दृष्टि से नारी के उद्बोधन का स्वर अति प्रबल है। इस नाटक में राक्षस और मानव के चरित्रों के सर्जन में नाटककार की अपूर्व विधायक कल्पना का परिचय मिलता है। शिल्प की दृष्टि से नाटक में कई न्यूनताएँ हैं। एवं जटिलता भी आ गई है। 'मुक्ति का रहस्य' में जीवन में अतिरिक्तता का बहिष्कार कर यथार्थ को अपनाने का आग्रह है। प्रेम में रोमांस को प्रतिष्ठित करने वाली आशादेवी और उसे आध्यात्मिक रूप देने वाला उमाशंकर दोनों असफल होते हैं। यथार्थ भूमि पर खड़े होकर अपने पाप को स्वीकार करने से ही समस्या सुलझती है यह इसका दूसरा प्रतिपाद्य है। कथानक-विन्यास चरित्र-चित्रण संवाद सभी दृष्टियों से नाटक सफल है। 'राजयोग' में नाटककार व्यक्त करता है—सत्य को मत छिपाओ। छिपाने से वह मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेगा और व्यक्तित्व के विकास को रोक देगा। नाटक में चम्पा गजराजसिंह शत्रुसूदनसिंह आदि सभी प्रमुख पात्रों की यही समस्या है। अन्त में सभी अपने अपराध को स्वीकार करते हैं और समस्या सुलझ जाती है। शिल्प की दृष्टि से नाटक सफल है।

घटना एवं समस्या प्रधान नाटक

'सिन्दूर की होली' का सम्पूर्ण वृत्त मुरारीलाल की कथा को केन्द्रित करके चलता है जिसमें कर्म-न्याय-सिद्धान्त (Theory of nemesis) का बड़ा सुन्दर व्याख्यान है। नाटक का दूसरा पक्ष पात्रों द्वारा समस्याओं पर किए गए तर्कपूर्ण विवेचन से सम्बद्ध है। मुख्य रूप से स्वच्छन्द प्रेम विधवा-विवाह और रिश्वतखोरी की समस्याओं पर गहरा एवं तटस्थ चिन्तन किया गया है। इसके

उपसंहार

प्रतिरिक्त नाटक के गौण वृत्तों से भी प्रायः कई सिद्धान्तों की सफल व्यंजना
की गई है। मनोरमा और मनोहरशंकर के प्रत्येक कार्य को सफल दिखलाकर
बुद्धिवाद की सफलता का उद्घाटन किया गया है। माहिर अली और मनोहर
शंकर की ग्रन्थि का चित्रण कर उनके व्यक्तित्व के प्रबन्ध विकास का चित्रण
किया है। इसके अतिरिक्त कानून द्वारा सुरक्षा की समस्या तथा विधवा के
जीवन-यापन की समस्या का भी चित्रण किया है। शिल्प की दृष्टि से भी यह
नाटक मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इसने बहुमुखी उद्देश्यों
और पाँच वृत्तों का कथानक-विन्यास में बड़ी कुशलता से सामंजस्य किया गया
है। द्वन्द्व कौतूहल सम्बद्धता आदि उत्तम कथानक के सभी गुण इसमें विद्यमान
है। चरित्र-चित्रण में मुरारीलाल का चरित्र नाटककार की अपूर्व सृष्टि है।
व्यक्तिवादी चरित्रों में चन्द्रकला के दोहरे व्यक्तित्व का सफल निर्वाह है।
संवाद में प्रौढ़ता के अतिरिक्त एक निजी सौन्दर्य है। निष्कर्ष रूप में 'सिन्दूर
की होली' सामाजिक नाटकों में सर्वोत्कृष्ट रचना है।

मिश्रजी का योगदान

मिश्रजी ने विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी नाटक धारा को
समृद्ध किया अतः दोनों का पृथक पृथक विवेचन करना समीचीन है।

वस्तुपक्ष

यथार्थवाद—यथार्थवाद से अभिप्राय है कि जो वस्तु है यथोचित है समाज
की दृष्टि से उपेक्षित है उसका भी उद्घाटन करना। नाटककार इसका तथ्य
नग्न कर समाज को उसके प्रति जागरूक करता है। वह इसमें अपना कोई मत
[ग] न करके समाज का दर्पण के सम्मुख खड़ा कर देता है। मिश्रजी ने
[व]स्य विषय की दृष्टि से मानव की वासना-वृत्ति, लोभ-वृत्ति और दूसरे की
[दुर्बल]ताओं से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की वृत्ति का बड़ा सुन्दर उद्घाटन
[कि]या है। वासना-वृत्ति का उद्घाटन 'सन्यासी' 'आधी रात' और 'सिन्दूर की
होली' में करते हुए नाटककार ने इसके संयत एवं व्यापक परिणाम का भी
चित्रण किया है। लोभ की वृत्ति का मुरारीलाल और रायसाहब मनवन्तसिंह
के माध्यम से अनावृत किया है। स्वार्थ की वृत्ति का अनावरण 'राक्षस का
मन्दिर' में मुनीश्वर के चरित्र द्वारा हुआ है। इस प्रकार नाटककार ने वस्तु
यथार्थ को समाज के सम्मुख रखते हुए उसे विचार करने के लिए प्रवृत्त किया है।

विचार-प्रेरण—हिन्दी नाटक के शिल्पगत में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों
के समावेश का श्रेय भी मिश्रजी को है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है अन्तराम

को छिपाने से वह मानसिक ग्रंथि का रूप धारण कर लेता है और व्यक्तित्व के विकास को रोक देता है। इस सिद्धान्त का निरूपण नाटककार ने मनोशंकर, माहिर अली मधुसूदनसिंह भवरानसिंह और चम्पा के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इन सब पात्रों के मन की ग्रंथियों का भेद प्रकट हो जाने पर इनका जीवन स्वस्थ हो जाता है। इन सिद्धान्तों को फ्रायड के वासनाओं के दमन के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में बड़ी सुगमता से समझा जा सकता है।

'राक्षस के मन्दिर' में नारी-उद्बोधन का स्वर भी बड़ा प्रबुद्ध है। नारी को अपने जागरण तथा विकास के लिए, अपने ही नहीं सम्पूर्ण नारी-जाति के उद्धार के लिए सक्रिय होने की प्रेरणा है।

जीवन की अतिरंजना के बहिष्कार की प्रेरणा भी 'मुक्ति का रहस्य' में बड़े सफल ढंग से व्यंजित की गई है। प्रेम को रोमांस का रूप देने वाली आशा देवी और उसे अलौकिक रूप देने वाला उमाशंकर दोनों ही असफल दिखाए गए हैं। और अन्त में आशादेवी और डाक्टर के विवाह के द्वारा दोनों पर सन्तुलित यथार्थ की विजय दिखाने में नाटककार सफल हुआ है।

'राक्षस के मन्दिर' में मुनीश्वर के तर्कों द्वारा व्यक्तिवाद और 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला के तर्कों द्वारा प्रकृतिवाद का भी आंशिक स्वरूप स्पष्ट हो गया है। इस प्रकार नाटककार ने प्रकारान्तर से व्यक्तिवाद (Individualism) और प्रकृतिवाद (Naturalism) के स्वरूप से भी पाठकों को परिचित करा दिया है।

इस प्रकार नाटककार ने भिन्न भिन्न विचारों का विश्लेषण उपस्थित कर हिन्दी नाटक की समृद्धता में विशेष योग दिया है।

समस्या—नाटककार ने नाटकों में समस्याओं का चित्रण दो माध्यमों से किया है—व्यंजना द्वारा एवं तर्क द्वारा। व्यंजना द्वारा नाटककार ने विधवा समस्या न्याय द्वारा सुरक्षा की समस्या अनमेल विवाह की समस्या और वह शिक्षा की समस्या का चित्रण किया है। और तर्क द्वारा स्वच्छन्द प्रेम की समस्या विधवा विवाह समस्या तथा रोमांसवाद की समस्या का विवेचन किया गया है। व्यंजना द्वारा चित्रित समस्याओं में जहाँ एक ही पक्ष का उद्घाटन हुआ है वहाँ तर्क द्वारा विवेचित समस्याओं में नाटककार समस्या के तटस्थ द्विपक्षी विवेचन में सफल हुआ है।

पात्र—नाटककार ने चरित्र-सृष्टि में मुरारीलाल और रघुनाथ के माध्यम से आधुनिक व्यक्तिवादी मानव की प्रवृत्तियों का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। इन चरित्रों में भ्रष्ट वर्ग के प्रोफेसरों जमींदारों और न्यायाधीशों के

चरित्र को प्रभावयुक्त करने का सफल प्रयास किया है।

नाटकों में व्यंग्य का आश्रय यद्यपि अधिक नहीं लिया गया तो भी जब तब आए हुए व्यंग अपनी प्रखरता के कारण बहुत महत्त्व रखते हैं।

शिल्पगत

कथानक-विन्यास की दृष्टि से नाटककार की कला का चरम विकास 'सिन्दूर की होली' में हुआ है। इसमें अधिक उद्देश्यों को व्यंजित करते हुए तथा पाँच अंकों का निर्वाह करते हुए भी कथानक इतना सुगठित है कि न ही किसी अंश का विच्छेद किया जा सकता है और न ही उसमें कोई न्यूनता झलकती है। सूच्य और दृश्य का विभाजन भी इस कुशलता से किया गया है कि इसमें नाटकीय स्थितियाँ कौतूहल आदि का स्वाभाविक रूप से समावेश हुआ है। हिन्दी नाटक में सफल उपक्रम के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण कम ही दृष्टिगोचर होते हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटककार की कला का चरम विकास सिन्दूर की होली में हुआ है। यौन-वैषम्य के चित्रण में चन्द्रकला का चरित्र अनुपम बना है। उसकी असाधारणता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि देते हुए नाटककार ने उसके चरित्र को कहीं भी शिथिल नहीं होने दिया। उसके चरित्र के दोहरेपन का उद्घाटन भी बड़ी कुशलता से किया गया है। वर्ग-चरित्रों में मुरारीलाल के चरित्र का चित्रण नाटककार की अपूर्व चित्रण शक्ति का परिचायक है। लोभ तथा न्याय और लोभ तथा दया के द्वन्द्व के उद्घाटन में नाटककार ने मानव की सूक्ष्म प्रवृत्तियों को मुखरित किया है।

संवाद की दृष्टि से नाटककार की देन अपूर्व है। प्रत्येक विषय साधारण अथवा असाधारण भाव प्रधान अथवा तर्क-प्रधान सरस अथवा नीरस सरल अथवा जटिल सभी में स्वाभाविकता एवं सजीवता बनाए रखने में नाटककार सफल है। मिश्रजी के नाटकों के संवाद कथानक को गति देने और चरित्र को स्पष्ट करने के अतिरिक्त नाटकीयता के कारण एक निजी सौन्दर्य भी रखते हैं। उनके टूटे-फूटे वाक्यों का विन्यास भी इस प्रकार का होता है कि उनकी अपूर्णता में भी साहित्यिक गरिमा अक्षुण्ण रहती है।

शैली की दृष्टि से राक्षस के मन्दिर में प्रतीक शैली का बड़ा सशक्त प्रयोग किया गया है। परन्तु इसमें प्रतीक का प्रयोग 'प्रबोध चन्द्रोदय' और 'कामना' की तरह स्पष्ट न होने के कारण पात्रों में सजीवता का भी पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है।

मौलिकता—इन विशेषताओं के अतिरिक्त कर्ता की दृष्टि से नाटककार

ने कुछ नवीन प्रयोग भी किए हैं जिनमें कहीं वह पूर्णतया सफल है और कहीं असफल ।

कथानक-विन्यास की दृष्टि से नाटककार ने 'आधी रात' में एक नवीन प्रयोग किया है । सम्पूर्ण कथानक में कार्य एवं गति का पूर्णतया अभाव है, अतः के द्वारा किए गए कतिपय तथ्यों के उद्घाटन के अतिरिक्त नाटक में कोई घटना नहीं घटती । शेष सम्पूर्ण कथानक का विन्यास केवल तर्क पर आधृत होता है । वैसे तो मिश्रजी के शेष नाटकों में भी कार्य को सूक्ष्म भाग में रख कर कथानक का विकास हुआ है परन्तु इस नाटक के संवादों में भी अधिकांश भाग सैद्धान्तिक तर्क का है । इससे कथानक में कौतूहल एवं रोचकता में कमी आ जाना स्वाभाविक है परन्तु नाटककार ने वस्तु विन्यास की योजना एवं संवादों की नाटकीयता के कारण इसका कई अंशों में परिहार किया है ।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी नाटककार ने आधी रात में एक नवीन प्रयोग किया है । भाव प्रधान नाटकों में अर्थात् हिन्दी की आदर्शवादी धारा के नाटकों में नाटककार चरित्रों की योजना इस दृष्टि से करता है कि प्रेक्षक का नायक के साथ तादात्म्य हो जाता है । उसके प्रत्येक कर्म में उसे सहानुभूति होती है और वह प्रतिनायक को अपना प्रतिद्वन्द्वी बना लेता है । युग चिन्तन के विकास के साथ इस धारणा में परिवर्तन हुआ और यह माना जाने लगा कि कोई भी पात्र मूल रूप से देव या दानव नहीं सबमें दुष्प्रवृत्तियाँ और सद्प्रवृत्तियाँ समभाव से विद्यमान हैं । उसकी कौन सी प्रवृत्ति का अधिक विकास हुआ है यह उसकी परिस्थितियों एवं परिवेश पर निर्भर है । अतः प्रत्येक व्यक्ति के दुष्कर्मों के लिए सामाजिक व्यवस्था को उत्तरदायी माना गया । इस दृष्टिकोण के आधार पर नाटककार प्रत्येक पात्र का चित्रण उसके दुष्कर्मों के बावजूद सहानुभूतिपूर्वक करता है । मिश्रजी के शेष सभी सामाजिक नाटकों में चरित्र-चित्रण के लिए इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है । सिन्दूर की होली में मुरारीलाल जैसा अपराधी पात्र जिसने लोभ के कारण दो हत्याओं में योग दिया भी सहानुभूतिशून्य नहीं । वैज्ञानिक प्रगति के साथ साथ चिन्तन-धारा का और अधिक विकास हुआ । मानव-चरित्र की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का विश्लेषण सहानुभूति की अपेक्षा तटस्थ बुद्धि से विचार द्वारा किया जाना अधिक समीचीन प्रतीत हुआ । अतः सहानुभूति का स्थान विचार ने ले लिया । नाटककार प्रत्येक पात्र के चरित्र को उसके सत्कर्मों और दुष्कर्मों को तटस्थ दृष्टि से वर्णित करने लगा । चरित्र चित्रण की इस अद्यतन प्रवृत्ति का प्रयोग नाटककार ने आधी रात में किया है । नाटक के दोनों प्रमुख

चरित्रों—मायावती और प्रकाशचन्द्र—के साथ हमें कोई सहानुभूति नहीं होती और न ही कोई घृणा होती है। हम उनके चरित्र के परिवर्तनों को केवल तटस्थ दृष्टि से विचार करते हैं। चरित्र-चित्रण की इस आधुनिकतम प्रवृत्ति को हिन्दी नाटक में उपस्थित करने का श्रेय केवल इसी नाटक का है।

चरित्र चित्रण में स्वगत के बहिष्कार के कारण उत्पन्न होने वाली अस्पष्टता के परिहार के लिए नाटककार ने 'राक्षस का मन्दिर' और 'आधी रात' में एक नवीन शैली का प्रयोग किया है। ऐसे प्रसंगों में पात्र स्वयं अपने चरित्र के विषय में प्रतीक कथा के माध्यम से सारी बातें कह देता है। इस प्रकार कथा कहने में जहाँ एक ओर सूक्ष्म अन्तर्प्रवृत्तियों का उद्घाटन होता है वहाँ चरित्र में स्वाभाविकता भी बनी रहती है। 'राक्षस का मन्दिर' में अश्करी एक वेश्या की कहानी के माध्यम से अपनी सारी समस्या को प्रकारान्तर से स्पष्ट कर देती है। 'आधी रात' में मायादेवी अपने प्रयास की पूर्णता की तथा आत्महत्या की बात राजा और रानी की कथा के माध्यम से कह देती है। इन कथाओं से कथानक के विकास में भी सहायता मिली है। नाटककार का यह नवीन प्रयोग दोनों ही नाटकों में सफल है।

स्वाभाविकता के विचार से 'आधी रात' में नाटककार ने दो संवादों को एक साथ एक ही समय में दिखाया है। द्वितीय अंक में मायावती और प्रकाशचन्द्र तथा प्रेम और राधाचरण के संवाद साथ-साथ चलते हैं। परन्तु इससे प्रसंग में अस्पष्टता आने के कारण नाटककार को इस प्रयोग में सफल नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी नाटक में स्वगत की पद्धति का व्यापक रूप से बहिष्कार सर्वप्रथम इन्हीं के नाटकों में हुआ। यद्यपि प्रसाद' जी ने नियतप्राप्य और सर्वश्राव्य आदि का अस्वाभाविकता के कारण बहिष्कार किया था तथापि स्वगत का प्रयोग उन के लगभग सभी नाटकों में मिलता है। वस्तुतः स्वगत अस्वाभाविक होते हुए भी चरित्र-चित्रण के लिए एक अनिवार्य सा उपकरण है। इसके बिना मन की सूक्ष्म अन्तर्प्रवृत्तियों का विवेचन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस अस्वाभाविकता के बहिष्कार से साधारण नाटककार सफल नहीं हो सकता। केवल मिश्रजी ही अपनी अप्रतिम प्रतिभा के कारण स्वगत के अभाव में असाधारण घटनाओं एवं असाधारण चरित्रों के व्यापक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में सफल हुए हैं। मुरारीलाल के चरित्र का स्वगतविहीन व्यापक अन्तर्द्वन्द्व उनकी कुशलता का परिचायक है।

नाटकों की तर्कप्रधान गद्य-शैली मिश्रजी के योगदान का शायद सबसे

सशक्त रूप है। वैसे तो इस काल तक गद्य-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न शैलियों का परिष्कृत रूप प्रचलित हो चुका था परन्तु नाटक के क्षेत्र में इतनी स्वाभाविक सजीव और नाटकीय शैली का प्रयोग इससे पूर्व न हुआ था। प्रसाद के नाटकों में शैली का परिष्कृत रूप मिलता है परन्तु उसमें नाटकीयता के गुण की पूर्ति कई स्थलों में काव्यत्व से की गई है। मिश्रजी की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषता है नाटकीयता। प्राय: वाक्य छोटे-छोटे हैं और विषय की गति के अनुसार परस्पर सम्बद्ध हैं। जहाँ वाक्य लम्बे भी हैं वहाँ भी उनमें भाव के प्रवाह के अनुरूप स्थान-स्थान पर स्वाभाविक यति है, जिससे आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रवाह में कहीं शिथिलता नहीं। शैली में स्वाभाविक बोलचाल का गुण होने के कारण वाक्यों में व्यंग्य विनोद मधुरता क्षिप्रता आदि गुणों का सहज समावेश हुआ है। सूक्तियों के प्रयोग ने इसमें विशेष योग दिया है। 'सिन्दूर की होली' में आधे पृष्ठ के भी कई संवाद हैं परन्तु कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि पात्र विचार प्रेषण के लिए बोल रहा है। शुद्ध तर्क के स्थलों पर भी नाटककार पाठक को उलझने नहीं देता। एक सिद्धान्तपरक वाक्य के विन्यास के प्रवाह को देखिए—

मनोरमा—"किस तरह जी! यही तो समाज का आदर्श है। स्त्री और पुरुष का सम्मिलित जीवन सुख दुख दोनों का न तो कोई शंका न सन्देह और न तलाक। किसी भी परिस्थिति में समझौता और सामंजस्य। इस प्रकार समाज की स्थिति दृढ़ है। सम्भव है इसमें भी बुराई हो लेकिन जीवन नितान्त भला कहाँ है? विधवा-विवाह और तलाक दो बुराइयों में से एक को पसन्द करना पड़ेगा नहीं तो दोनों बुराइयाँ तो समाज को निगल जायेंगी।"

इस प्रकार तर्क-प्रधान ऐसे नीरस स्थलों पर भी नाटककार ने कुतर्क को अभिभूत करने की शैली के साथ-साथ नाटकीयता का अपूर्व समावेश किया है। साधारण स्थलों पर तो इसका और भी परिष्कृत रूप दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि मिश्रजी के सामाजिक नाटकों ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को विषय एवं शैली दोनों दृष्टियों से समृद्ध किया है। इस योगदान का महत्त्व और भी बढ़ जाता है जब हम उनकी पूर्वकालीन यथार्थवादी धारा की अविकसित दशा का अवलोकन करते हैं। इन्होंने नई परम्पराओं को जन्म देकर और कई परम्पराओं को विकसित करके हिन्दी नाटक की यथार्थवादी धारा को युग-चिन्तन के समानान्तर खड़ा करने में अपूर्व सहयोग दिया है।

उपसंहार

हिन्दी नाटक की प्रगति और मिश्रजी

मिश्रजी ने सामाजिक नाटकों द्वारा न केवल हिन्दी साहित्य को समृद्ध ही किया प्रत्युत कई परम्पराओं का निर्माण कर परवर्ती नाटकों के लिए मार्ग भी प्रस्तुत किया। परन्तु हिन्दी नाटक के विकास की मन्द गति के कारण और उस में भी सामाजिक नाटकों की ओर हिन्दी नाटककार की पराङ्मुखता के कारण परम्परा की दृष्टि से इनके योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि इन नाटकों के प्रभाव के कारण परवर्ती सभी धाराओं के नाटकों में 'प्रसाद' और डी० एल० राय की भावुकता काल्पनिकता और अतिरंजना की अपेक्षा यथार्थता और मनोविज्ञान को अधिक प्रश्रय मिला। हिन्दी नाटक-धारा में शिल्प-परिवर्तन का यह श्रेय मिश्रजी के सामाजिक नाटकों को सहज ही दिया जा सकता है।

हिन्दी नाटक की यथार्थवादी धारा में मिश्रजी का स्थान सर्वोच्च है। क्योंकि इस धारा के अधिकांश नाटक स्थूल समस्याओं तक ही सीमित हैं जो कुछ इने-गिने नाटक सूक्ष्म समस्याओं को लेकर चले हैं जैसे पृथ्वीनाथ शर्मा का 'दुविधा' उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' उदयशंकर भट्ट का 'नया समाज' आदि वे भी चिन्तन की दृष्टि से अपेक्षाकृत प्रौढ़ नहीं कहे जा सकते।

वैसे तो यथार्थवादी और आदर्शवादी धारा के नाटककारों की परस्पर तुलना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि दोनों धाराओं की प्रकृति सर्वथा भिन्न है परन्तु यदि इस प्रकार का आग्रह किया भी जाय तो दोनों धाराओं के आधारभूत भेदों को दृष्टि में रखकर ही किया जाना चाहिए। आदर्शवादी धारा में मिश्रजी की तुलना केवल प्रसाद के साथ ही की जा सकती है। तुलना में प्रथम निकष कृतियों के सामाजिक मूल्य का होना है। इस दृष्टि से दोनों की रचनाओं को एक ही दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। एक अतीत की उज्ज्वलतम झाँकी प्रस्तुत कर समाज के गुणों का विकास के लिए दिशा देता है दूसरा वर्तमान की त्रुटियों की छान-बीन कर उसके विकराल रूप की मीमांसा कर उन्हें दूर करने की प्रेरणा देता है। एक की पद्धति विधेयात्मक है दूसरे की निषेधात्मक। एक गुणों का विकास चाहता है दूसरा त्रुटियों का परिमार्जन। दोनों पद्धतियों का अपना निजी महत्त्व है अत: इस दृष्टि से तुलना समीचीन नहीं। यदि सामाजिक मूल्य को आँकने का आधार लोकप्रियता को माना जाय तो निस्सन्देह प्रसाद जी की कृतियाँ को इस दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जायगा। परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक नहीं कि नाटककार प्रसाद की लोकप्रियता में कई अंशों तक कवि प्रसाद का भी

योग है।

दूसरा निकष मनोविज्ञान का है अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन की पकड़ किसकी गहरी है। इस विषय में भी कोई एकपक्षीय निर्णय नहीं दिया जा सकता क्योंकि दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रखते हैं। एक चाणक्य स्कन्दगुप्त देवसेना जैसे महान् आदर्श चरित्रों को मानवीय रूप देने में सफल है तो दूसरा मुरारीलाल जैसे भ्रष्ट चरित्र के मानव-रूप को विस्मृत नहीं होने देता। तीसरा निकष शास्त्रीय है। कला की दृष्टि से मिश्रजी का कथानक-संगठन अधिक सुसम्बद्ध पूर्ण एवं सुनियमित है। चरित्र चित्रण में भी मानव-मन की सूक्ष्म अन्तःप्रवृत्तियों का उद्घाटन हुआ है अतः मिश्रजी को प्रसाद जी की तुलना में किसी भाँति भी द्वितीय श्रेणी का कलाकार नहीं कहा जा सकता। अतः सभी दृष्टियों से विचार करते हुए यही कहना समीचीन है कि दोनों अपने अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष-रूप में केवल इतना ही कह सकते हैं कि आदर्शवादी धारा में जो स्थान प्रसाद को प्राप्त है वही स्थान यथार्थवादी धारा में मिश्रजी को प्राप्त है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१ अभिनव नाट्यशास्त्र — पं० सीताराम चतुर्वेदी
२ अरस्तू का काव्यशास्त्र — डा० नगेन्द्र
३ आधुनिक साहित्य — नन्ददुलारे वाजपेयी
४ आधुनिक हिन्दी नाटक — डा० नगेन्द्र
५ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास — डा० श्रीकृष्णलाल
६ काव्य और कला तथा अन्य निबंध — जयशंकर प्रसाद
७ काव्य के रूप — गुलाबराय
८ नाट्य विमर्श — गुलाबराय
९ मैं इनसे मिला (भाग १) — पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
१० रूपक रहस्य — श्यामसुन्दर दास
११ हिन्दी नाटक — डा० बच्चनसिंह
१२ हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — डा० वेदपाल खन्ना 'विमल'
१३ हिन्दी साहित्य — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१४ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल

अंग्रेजी

15 An Introduction to the study of literature — Hudson
16 Drama From Ibsen to Eliot — Williams
17 Encyclopaedia Americana
18 Plays Pleasant & Unpleasant — Bernard Shah
19 Poetry and Drama — T S Eliot
20 Quintessence of Ibsenism — Bernard Shah
21 The Art of Drama — Ronald Peacock
22 The Aspects of Modern Drama — Chandler

23 The Euorpean Theories of Drama — B. H. Clark
24 The Making of Literature — Scott James
25 The Twentieth Century Drama — Hudson (L)
26 Wordsworth Poetry & Prose — Oxford
27 World Drama — Allardyce Nicoll

संस्कृत

२८ काव्य प्रकाश — मम्मट
२९. काव्यालंकार — भामह
३० वक्रोक्तिजीवितम् — कुन्तक
३१ नाट्यशास्त्र — भरत मुनि